पर्यावरण और वन मंत्रालय, भारत सरकार, द्वारा पुरस्कृत

प्रदूषण :

कारण और निवारण

प्रदूषण :

कारण और निवारण

श्यामसुन्दर शर्मा
मृदुला गर्ग

पुस्तक के सम्बन्ध में

हमारा देश निर्धन लोगों का सम्पन्न देश है जहां अनेक शताब्दियां साथ-साथ देखने को मिलती हैं। हमारे देश में कई क्षेत्र ऐसे हैं जहां लोग अब भी मध्य युग में जी रहे हैं। साथ ही ऐसे क्षेत्र भी हैं जो इक्कीसवीं शताब्दी में पदार्पण करने के लिए तत्पर हैं। इस प्रकार हम एक ही समय अल्प विकास और विकास की समस्याओं से पीड़ित हैं। दूसरे शब्दों में हम गरीबी और समृद्धि, दोनों के, फलस्वरूप उत्पन्न प्रदूषण और पर्यावरण-अपहरण से पीड़ित हैं। जहां तक विकास का प्रश्न है हमने निस्संदेह बहुत प्रगति की है। यह भी तथ्य है कि कुछ समय पूर्व तक हमारे देश मे पर्यावरण-नियंत्रण-संस्कृति थी ही नहीं। इस प्रकार अन्य पर्यावरणीय मसलो के साथ हमारे लिए अपनी वायु, जल और भूमि, को प्रदूषित करने वाले कारकों को पहचानने और उन्हें नियंत्रित करने हेतु नीति निर्धारित करने के लिए शीघ्र कदम उठाना अत्यंत महत्वपूर्ण है। इन मुद्दों के प्रति जन-साधारण में जागरुकता फैलाना भी उतना ही महत्वपूर्ण है जिससे अतीत में प्रदूषण से हुई हानि को पूरा करने के लिए ठोस कदम उठाए जा सकें और भविष्य मे होने वाली प्रगति के फलस्वरूप प्रदूषण के भंडार में वृद्धि न हो तो तथा करोड़ों देशवासियों को गरीबी की दलदल से उभारा जा सके। इसीलिए भविष्य मे प्रगति ऐसी होनी चाहिए कि पर्यावरण पर इसके कुप्रभाव न पड़ें।

उक्त संदर्भ में प्रस्तुत पुस्तक महत्वपूर्ण और एकदम सामयिक है। हम लेखकों के प्रति आभारी हैं कि उन्होंने 'प्रदूषण : कारण और निवारण' जैसी पुस्तक की रचना की। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक हिन्दी भाषा-भाषी जनता द्वारा पसंद की जाएगी और उसमें प्रदूषण संबंधी जानकारियों का प्रसार करने में बहुत उपयोगी होगी।

त्रिलोकी नाथ खुशू
भूतपूर्व सचिव,
पर्यावरण और वन मंत्रालय,
भारत सरकार

अपनी बात

आज प्रदूषण विश्वव्यापी समस्या है जिससे विकासशील देश ही नहीं विकसित देश भी पीड़ित हैं। वह नगरों की ही नहीं गांवों की भी समस्या है। उससे केवल गरीब किसान ही नहीं बड़े उद्योगपति भी पीड़ित हैं। हर व्यक्ति आज इस समस्या से छुटकारा पाना चाहता है पर विडम्बना यह है कि अधिकांश व्यक्ति जाने-अनजाने ही वातावरण को प्रदूषित करते रहते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि उन्हें उन कारकों का पर्याप्त ज्ञान नहीं है जो प्रदूषण फैलाते हैं। प्रदूषण निवारण का सर्वोत्तम उपाय है कि उसे पैदा ही न होने दिया जाए। इसके लिये जनसाधारण को प्रदूषण उत्पन्न होने वाले कारणों से अवगत कराना तथा यदि वातावरण प्रदूषित हो चुका है तब उसे पुन: स्वास्थ्य वर्धक बनाने के लिये उपाय सुझाना जरूरी है। इसी उद्देश्य से हम इस पुस्तक की रचना कर रहे थे कि भारत सरकार के पर्यावरण और वन मंत्रालय ने भी इसी उद्देश्य से पर्यावरण के विभिन्न पहलुओं पर हिन्दी में मौलिक पुस्तकों पर पुरस्कार प्रदान करने की योजना की घोषणा कर दी। इससे हमें भी पुस्तक की पाण्डुलिपि को, प्रकाशन से पूर्व, प्रबुद्ध वर्ग द्वारा पुनरीक्षित कराने का अवसर मिल गया। पाण्डुलिपि की सामग्री खरी उतरी और द्वितीय पुरस्कार से सम्मानित हुई।

हमें आशा है कि साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी, जिसको मुख्य रूप से ध्यान में रखकर यह पुस्तक लिखी गई है, इससे अवश्य लाभान्वित होगा।

पुस्तक की पाण्डुलिपि पढ़कर प्रो० टी० एन० खुशू, भूतपूर्व सचिव, पर्यावरण और वन मंत्रालय, भारत सरकार ने उसकी बहुत सराहना की। उनके विचार आप भूमिका में पढ़ सकते हैं। हम उनके प्रति अत्यन्त आभारी हैं। हम भारत सरकार के पर्यावरण और वन मंत्रालय के प्रति भी आभारी हैं, जिन्होंने पुस्तक के वास्तविक महत्व को समझकर उसे पुरस्कृत किया। श्री डी० के० गर्ग को जिन्होंने पाण्डुलिपि में संशोधन करने हेतु अनेक उपयोगी सुझाव दिये, हम कोटिश: धन्यवाद देना चाहते हैं।

पुस्तक जैसी भी बन पड़ी है आपके सामने है, आशा है जनमानस हेतु उपयोगी सिद्ध होगी।

श्याम सुन्दर शर्मा
सम्पादक 'विज्ञान प्रगति'
प्रकाशन और सूचना निदेशालय
(सी० एस० आई० आर०)
नई दिल्ली-110012

(श्रीमती) मृदुला गर्ग
ब्लाक आई० ए०, मकान नं० 46-सी
अशोक विहार, फेज-I
नई दिल्ली

क्रम

1. सबसे बड़ा संकट

जब मनुष्य ने पृथ्वी पर पदार्पण किया तब वायु शुद्ध थी, जल शुद्ध था, भूमि शुद्ध थी। पेड़-पौधे स्वच्छंदता से उगते थे। जीव-जन्तु मनचाही जगह विचरण करते थे। कहीं किसी के लिए भी कोई रोक-टोक नहीं थी। सभी भूमि गोपाल की थी। वैसे मनुष्य के पदार्पण के तुरन्त बाद भी इसमें परिवर्तन नहीं आया। बस ऐसा लगा मानो जंगल के जीव-जन्तुओं में एक और जन्तु की बढ़ोत्तरी हो गई। मनुष्य ने पृथ्वी पर सब जीवों के बाद पदार्पण किया था और अन्य जीवों की तुलना में उसका मस्तिष्क कहीं अधिक विकसित था। इसीलिए उसने जल्दी ही अपना प्रभाव दिखाना आरभ कर दिया। यद्यपि उसके न तो शेर जैसे नुकीले दांत और नाखून थे, न गेंडे जैसी मजबूत खाल थी, न चीते जैसी फुर्ती थी और न ही हाथी जैसी ताकत। पर अपनी बुद्धि के फल-स्वरूप जल्दी ही उन सब पर विजय पाना आरम्भ कर दिया। वह शेर को मार सकता था। चीते से अपनी रक्षा कर सकता था और हाथी को पछाड़ सकता था। अपनी अवलोकन शक्ति के बल पर प्राकृतिक रूप से पत्थरों के रगड़ खाने से उत्पन्न होने वाली अग्नि को देखकर उसने आग जलाना सीखा। पेड़ों के बेलनाकार तनों को अधिक सुगमता और शीघ्रता से लुढ़कते हुए देखकर चक्के का आविष्कार किया। लकड़ी को पानी में तैरते हुए देखकर नाव बनाई और घोड़े, कुत्ते, गाय जैसे प्राणियों के स्वभाव को परख कर उन्हें पालतू बनाया और उनसे अपने काम लेना सीखा। जलती आग में एक दिन अचानक ही अपने शिकार के गिरकर भुन जाने पर उसके स्वाद में अन्तर जान लेने पर उसने भोजन पकाना सीखा और वर्षा, गर्मी, सर्दी आदि से बचाव के लिए प्राकृतिक गुफाओं के स्थान पर लकड़ियों से बनाये और पत्तियों से ढके छप्पर को अधिक निरापद पा लेने पर मकान बनाना सीखा। धीरे-धीरे उसने जंगलों को साफ कर खेती और मकानों के लिए भूमि

अर्जित की। वह मकान बनाकर अपनी गृहस्थी के साथ उसमें रहने लगा, खेती करके अपनी जीवकोपार्जन करने लगा और जानवरों को पाल कर उनसे अपने काम करवाने लगा।

पर उसी समय से उसने प्रकृति के संतुलन में व्यावधान उत्पन्न करना शुरू कर दिया। वन काटकर उसने कृत्रिम भूमि कटाव का श्रीगणेश कर दिया, आग जलाकर वायुमंडल में कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा में वृद्धि करनी शुरू कर दी और भूमि से अधिक फसल प्राप्त करने के लालच में खाद डालकर भूमि के सूक्ष्म जीवों का संतुलन बिगाड़ना आरम्भ कर दिया। पर प्रकृति की स्वाभाविक संतुलन बनाए रखने की क्षमता असीम थी। उसकी तुलना में मनुष्य के उस संतुलन को गड़बड़ाने के प्रयत्न ऐसे ही थे जैसे सागर में से एक लोटा पानी निकाल लेने से उसके पानी की मात्रा में कमी होना।

उसके बाद धीरे-धीरे मनुष्यों की संख्या में वृद्धि होने लगी। उनको रहने, खेती करने और अपने धंधे चलाने के लिए अधिक जमीन चाहिए थी, अधिक लकड़ी और वनोत्पाद चाहिए थे और समान ढोने के लिए अधिक पालतू जानवर। एक बार आबादी बढ़ने का सिलसिला आरम्भ हुआ तो वह चलता ही रहा। इससे जंगलों की तेजी से सफाई होने लगी, बड़े-बड़े खेत बन गए, भूमिगत खनिजों को निकालने के लिए खानें बन गई, गांव, शहरों में बदलने लगे और नये-नये गांव बसने लगे। साथ ही नित नये औजारों और युक्तियों के आविष्कार होने लगे। कपड़े बुनने, धातुओं की वस्तुयें बनाने तथा दवाइयों, रसायन आदि अनेक वस्तुओं का निर्माण, छोटे पैमाने पर घरों में करने की बजाय बड़े-बड़े कारखानों में किया जाने लगा। और इन सबसे प्रदूषण बढ़ने लगा। शहरों के आसपास की वायु अधिक गंदी रहने लगी। वे नदियां, जिनके किनारे शहर बसाये गए थे, दूषित होने लगीं और खेतों की भूमि की उर्वरा शक्ति कम होने लगी। यद्यपि प्रदूषण की मात्रा बढ़ रही थी पर फिर भी इतनी नहीं थी कि वायु, जल, भूमि आदि स्वतः शुद्धिकरण की क्षमता से उसका मुकाबला न कर सकें। इसलिए किसी बड़े शहर के निकट बड़ी मात्रा में मल-मूत्र, घरेलू कचरा आदि डालने से गंदी हुई नदी एक किलोमीटर मार्ग तय करने पर फिर शुद्ध हो जाती और दूसरे शहर की गंदगी को पचाने के लिए एकदम

तैयार हो जाती थी। इस प्रकार कारखानों और शहरों के निकट के वायुमंडल में वायु दूषित होती पर जल्दी ही पुनः स्वयं शुद्ध हो जाती। यह स्थिति लगभग उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण तक रही। परन्तु उसके बाद स्थिति बद से बदतर होती चली गई।

बीसवीं सदी के आरंभ से ही, अनेक प्राणलेवा रोगों पर नियंत्रण कर लेने के बाद तथा विभिन्न आविष्कारों और खोजों के बल पर
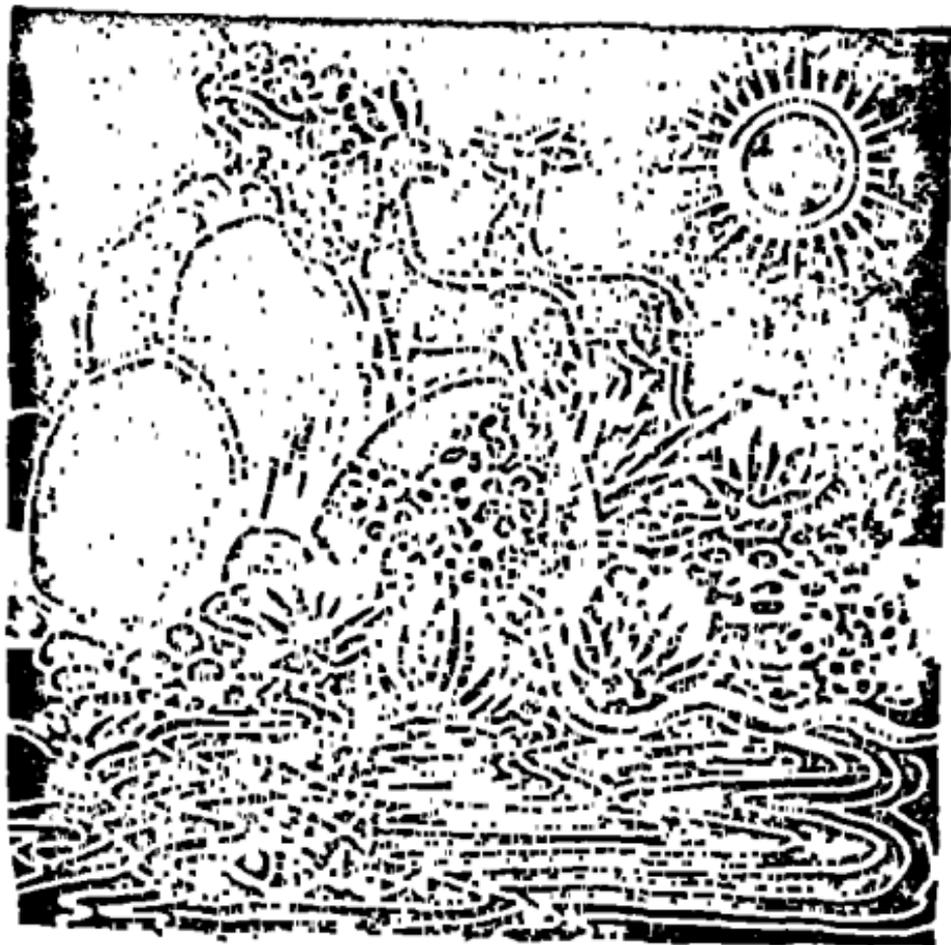
प्रदूषण बढ़ने से पहले प्रकृति

अपने जीवन को अधिक सुखमय और सुविधाजनक बना लेने के परिणामस्वरूप मानव जन संख्या में तेजी से वृद्धि करने लगा। गांव कस्बे बन गए, कस्बे शहर तथा शहर और बड़े शहर बनने लगे। इससे अधिक अन्न और अधिक मकानों की जरूरत पड़ने लगी, अधिक कारखाने

स्थापित किए जाने लगे। परिणामस्वरूप जंगलों का क्षेत्रफल बहुत तेजी से घटने लगा। अब मनुष्य के ऊर्जा खर्च करने की दर बहुत अधिक बढ़ गई। हमारे देश के ही जगतप्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० होमी जहांगीर भाभा के अनुसार "यदि हम 3300 करोड़ टन कोयले के जलाने से प्राप्त होने वाली ऊर्जा की मात्रा को 'क' मान लें तब ईसा के जन्म से लेकर 1850 तक ऊर्जा व्यय की दर क/2 प्रति शताब्दी थी। उसके बाद वह बढ़कर 'क' प्रति शताब्दी हो गई और आज वह '10 क' प्रति शताब्दी है।" दूसरे शब्दों में मनुष्य ने पिछले 2000 वर्षों में कुल जितनी ऊर्जा खर्च की उसका आधा भाग केवल अंतिम एक शताब्दी में खर्च किया है। कुछ लोगों का तो यह अनुमान है कि ऊर्जा खपत की दर इससे भी कहीं अधिक है।

ऊर्जा खपत की यह दर निश्चय ही मनुष्य की प्रगति की दर की द्योतक है पर साथ ही बढ़ते हुए प्रदूषण की भी। इस ऊर्जा का अधिकांश भाग अब भी पेट्रोल, प्राकृतिक गैस, कोयले और लकड़ी जैसे ईंधनों से प्राप्त होता है जिनके जलने पर बनती है कार्बन डाइआक्साइड। यद्यपि पेड़-पौधे इसी कार्बन डाइआक्साइड से प्रकाश संश्लेषण द्वारा अपना भोजन बनाते हैं पर अब वायुमंडल में इसकी मात्रा इतनी अधिक होती जा रही है कि पेड़-पौधे इसकी मात्रा को नियंत्रित नहीं रख सकते। परिणामस्वरूप वायुमंडल में कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा लगभग 0.6 प्रतिशत की वार्षिक दर से बढ़ती जा रही है। साथ ही वायुमंडल की ताप भी बढ़ रहा है। इससे ध्रुवीय प्रदेशों की बर्फ पिघलने और फलस्वरूप धरती का काफी भाग डूब जाने की आशंका होने लगी है।

वायुमंडल के समताप क्षेत्र (स्ट्रेटोस्फीयर) में स्थित ओजोन गैस की परत सुदूर ब्रह्माण्ड से आने वाली घातक पराबैंगनी विकिरणों से पृथ्वी के जीव-जन्तुओं की रक्षा करती है। पर स्वयं यह परत भी, बड़ी मात्रा में फ्लोरोक्लोरो कार्बन यौगिकों के वायु में मिलते रहने से, घटने लगी है। और इन यौगिकों के वायु में मिलने की दर में 2.5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हो रही है जिससे ओजोन की परत की मोटाई भी कई सौ गुनी अधिक तेजी से घट रही है। अगर स्थिति यही रही तो कैंसर, त्वचा रोग, मोतियाबिन्द जैसे रोगों से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या में तेजी से वृद्धि होती रहेगी। अनेक शहरों यथा तोक्यो का

वायुमंडल ऐसा हो गया है कि उसमें सांस लेना भी दूभर हो गया है।

बढ़ती आबादी और उससे तेजी से बढ़ते औद्योगिकीकरण के फल-स्वरूप पृथ्वी पर मौजूद हर प्रकार का पानी, चाहे वह सागर में हो, नदियों या तालाबों में हो अथवा भूमि के नीचे, प्रदूषित होता जा रहा है। औद्योगिक रूप से उन्नत देशों के निकट स्थित सागर उदाहरणार्थ भूमध्यसागर, मिनीमाता की खाड़ी, न्यूयार्क के निकट का सागर मात्र गंदी झील बनकर रह गए हैं। इसी प्रकार बड़े शहरों अथवा बड़े कारखानों के निकट से गुजरने वाली नदियां गंदी नालियां बनकर रह गई हैं। उनका पानी पीने लायक ही नहीं कपड़े धोने और सिंचाई के लायक भी नहीं रहा है। इनमें अमेरिका और ब्रिटेन की नदियां ही नहीं हमारी गंगा-यमुना भी शामिल हैं। कारखानों से निकलने वाले जह-रीले पदार्थ धरती में भी समा जाते हैं और भूमिगत जल भंडारों को दूषित कर देते हैं। गुजरात के राजकोट शहर के आसपास साड़ी छापने के कारखानों से निकलने वाले लाल रंग के विषैले पानी के भूमि में सोझ जाने से उस इलाके के कुओं और नलकूपों का पानी भी लाल होने लगा है।

भूमि से अधिकाधिक फसल प्राप्त करने के लिए बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किए जा रहे उर्वरकों और कीटाणुनाशकों के अंश अब हमारे भोजन और उनसे शरीर में पहुंचने लगे है। दिल्ली में ही माता के दूध में भी डी. डी. टी. जैसे कीटनाशक मौजूद पाए गए हैं।

कलकारखानों, हवाई जहाजों, रेलगाड़ियों और मोटर वाहनों से उत्पन्न शोर ने लोगों का जीना दूभर कर दिया। शोरजन्य प्रदूषण मनुष्य को बहरा बनाता जा रहा है और अनेक रोगों से ग्रस्त करता जा रहा है।

पर इनसे भी बड़ा प्रदूषण का एक स्रोत और भी है जिससे वर्तमान पीढ़ी हो नहीं आगामी पीढ़ियों के भी प्रभावित होने की आशंका है; वह है रेडियोधर्मिता। जान बूझकर किए गए नाभिकीय विस्फोटों और असावधानीवश होने वाली दुर्घटनाओं से उत्पन्न रेडियोधर्मी किरणें हजारों लोगों की मृत्यु का कारण बन सकती है और लाखों जीनों में उत्परिवर्तन करके हमारी आगामी पीढ़ियों को भी प्रभावित कर सकती हैं।
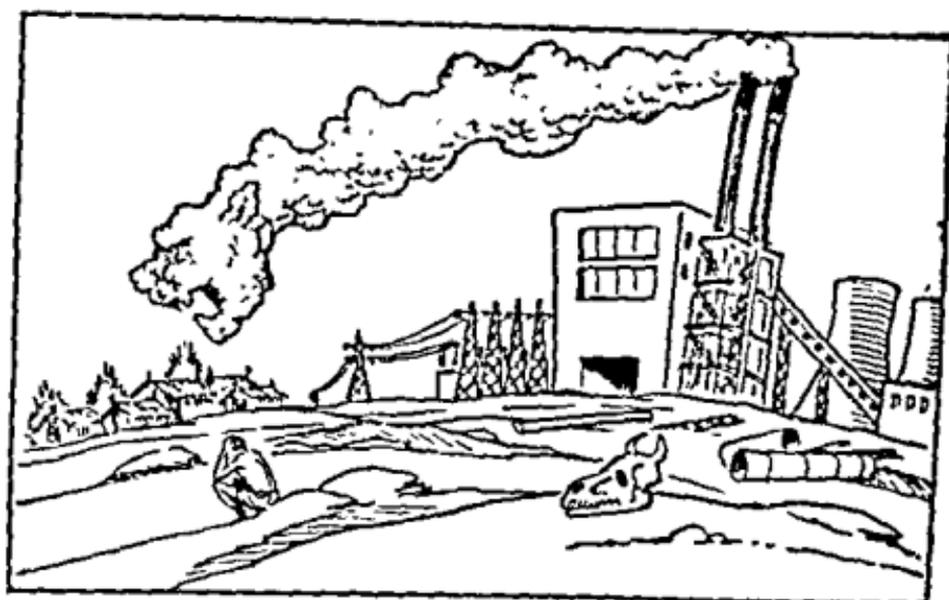
बढ़ते हुए प्रदूषण के परिणाम

आज न वायु शुद्ध है, न जल शुद्ध है और न भूमि। जहर उगलते कारखाने और बढता हुआ शोर हमें चैन से जीने नहीं दे रहा है। प्रदूषण आज संसार का सबसे बड़ा संकट बन गया है। वह हमारे अस्तित्व को ही मिटाने पर तुल गया है। क्या उसे रोकने के उपाय हैं? क्या हम फिर शुद्ध वायु, स्वच्छ, स्वास्थ्यकर जल प्राप्त कर सकेंगे? क्या हम अपने कारखानों और वाहनों को जहर उगलने और जानलेवा शोर उत्पन्न करने से रोक सकेंगे? हां! यदि हम सही तरीके अपनायें और कटिबद्ध होकर उनका पालन करें तो! पर प्रदूषण निराकरण के इन उपायों को जानने से पहले उन कारकों की कुछ विस्तार से चर्चा करना जरूरी होगा जो वायु, जल, भूमि आदि को प्रदूषित कर रहे हैं। सबसे पहले वायु प्रदूषकों की चर्चा कर लें।

2. वायु प्रदूषण

जीवित रहने के लिए हमें जिस वस्तु की सबसे अधिक आवश्यकता होती है वह है वायु। वायु के बिना मनुष्य ही नहीं वरन कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता। वायुविहीन वातावरण में कुछ मिनटों के भीतर ही हमारी मृत्यु हो सकती है।

पृथ्वी पर वायु की कमी नहीं है। पृथ्वी पर सतह से लेकर लगभग 300 किलोमीटर की ऊंचाई तक वायु की एक छतरी छाई हुई है। इस छतरी के निचले, लगभग 15 किलोमीटर की ऊंचाई तक के भाग में ही वायु की अधिकांश मात्रा मौजूद है। हमारे लिए वायु का यही भाग सबसे महत्वपूर्ण भी है। विज्ञान का एक साधारण विद्यार्थी भी यह भली-भांति जानता है कि वायु अनेक गैसों का मिश्रण है जिसमें कुछ अन्य पदार्थ यथा पानी की भाप, धूल के कण आदि भी मौजूद होते है। वायु में सबसे अधिक मात्रा में, लगभग 80 प्रतिशत, नाइट्रोजन होती है। शेष 20 प्रतिशत भाग में आक्सीजन का ही बोलबाला होता है। बहुत थोड़ी मात्र में, यथा 10 हजार भाग में से 3 या 4 भाग, कार्बन डाइआक्साइड तथा आर्गन, हीलियम जैसी अक्रिय गैसें होती हैं। हमारे लिए वायु का सबसे महत्वपूर्ण अंग है आक्सीजन। जब हम जीवित रहने या आग जलाने के सन्दर्भ मे वायु की बात करते हैं तब हमारा वास्तविक तात्पर्य उसके आक्सीजन अंश से ही होता है। आक्सीजन सब जीव-जन्तुओं, पेड़-पौधों के लिए अनिवार्य है (कुछ अत्यन्त सूक्ष्म जीवों को छोड़कर)। यद्यपि हमारे लिए नाइट्रोजन का महत्व कम नही है परन्तु उसका महत्व वायु के निष्क्रिय घटक के रूप में आक्सीजन की क्रिया को मन्द करने के रूप में अधिक है। वैसे हमारा पोषक भोजन, पशुओं के पोषक चारे और पेड़-पौधों के लिए पोषक खाद का मुख्य अंग नाइट्रोजन ही होती है।

पृथ्वी की सतह से लगभग 10 किलोमीटर ऊपर और 10 किलो-

मीटर नीचे तक स्थित क्षेत्र जीवमंडल कहलाता है। इसी में पृथ्वी के सब जीव-जन्तु रहते हैं। इसमें सागर भी शामिल है। 90 प्रतिशत जीव इस क्षेत्र के लगभग 3 किलोमीटर भाग में ही अर्थात पृथ्वी की सतह से 1.5 किलोमीटर ऊपर और 1.5 किलोमीटर नीचे रहते हैं। पृथ्वी के इस कटिबन्ध में ही अधिकांश उपयोगी गैसों यथा आक्सीजन कार्बन डाइआक्साइड, नाइट्रोजन आदि के सन्तुलन चक्र स्वतंत्र रूप से निरन्तर गतिशील होते हैं। उदाहरणार्थ श्वसन क्रिया के दौरान वायु-मंडल से जो आक्सीजन हम ग्रहण करते हैं उसकी मात्रा सीमित है। इसलिए उसके सन्तुलन चक्र को चलाने के लिए उस आक्सीजन की पूर्ति करना जरूरी है। इसलिए प्रकृति ने यह व्यवस्था की है कि पेड़-पौधे कार्बन-डाइआक्साइड ग्रहण करें और आक्सीजन मुक्त करें।

जब तक वायुमंडल में गैसों का अनुपात वैसा बना रहता है जैसा ऊपर बताया गया तब तक वायु शुद्ध रही आती है। पर आजकल यह अनुपात अक्सर गड़बड़ा जाता है। आजकल अक्सर ऐसा होता रहता है। वायु में जाने-अनजाने ऐसे पदार्थ काफी मात्रा में मिल जाते हैं जो या तो हमारे लिए हानिकारी होते है या अरुचिकर। ये ही वायु प्रदूषण का कारण बनते हैं। इन अवांछनीय पदार्थों में सिद्धान्ततः सब, 92 प्राकृतिक तत्त्वों और कुछ सश्लेषित तत्त्वों के यौगिक हो सकते हैं साथ ही वे ठोस, द्रव या गैस कुछ भी हो सकते हैं।

इन प्रदूषकों के परिणामस्वरूप कितनी भयंकर दुर्घटनायें हो सकती हैं। इसका एक अत्यन्त क्रूर उदाहरण है। भोपाल गैस कांड।

भोपाल गैस कांड—दिसम्बर 2 और 3, 1984 के मध्य की रात्रि काल रात्रि थी। उसका आरम्भ एकदम सामान्य था। पर अंत अत्यन्त भयावह। जब वह समाप्त हुई तो दो हजार से भी अधिक व्यक्ति मृत्यु की गोद में सो चुके थे। उस रात भोपाल स्थित यूनियन कार्बाइड लिमिटेड के पीड़कनाशी कारखाने से, लगभग एक बजे, एकाएक बहुत तेजी से फास्जीन और मिथिल आइसोसायनेट गैसें रिसने लगी। उस समय न तो वर्षा हो रही थी और न ही आंधी चल रही थी। इसलिए ये दोनोंप्राणघातकगैसें शीघ्र ही आसपास के वातावरण में पूर्णरूप से फल गई। उन्होंने सोते हुए लोगों को मौत की नींद सुलाना शुरू कर दिया। कुछ सोते हुए लोग जिनके ऊपर जहरीली गैसों का अधिक प्रभाव नहीं

जहरीला धुंआ
उगलते कारखाने
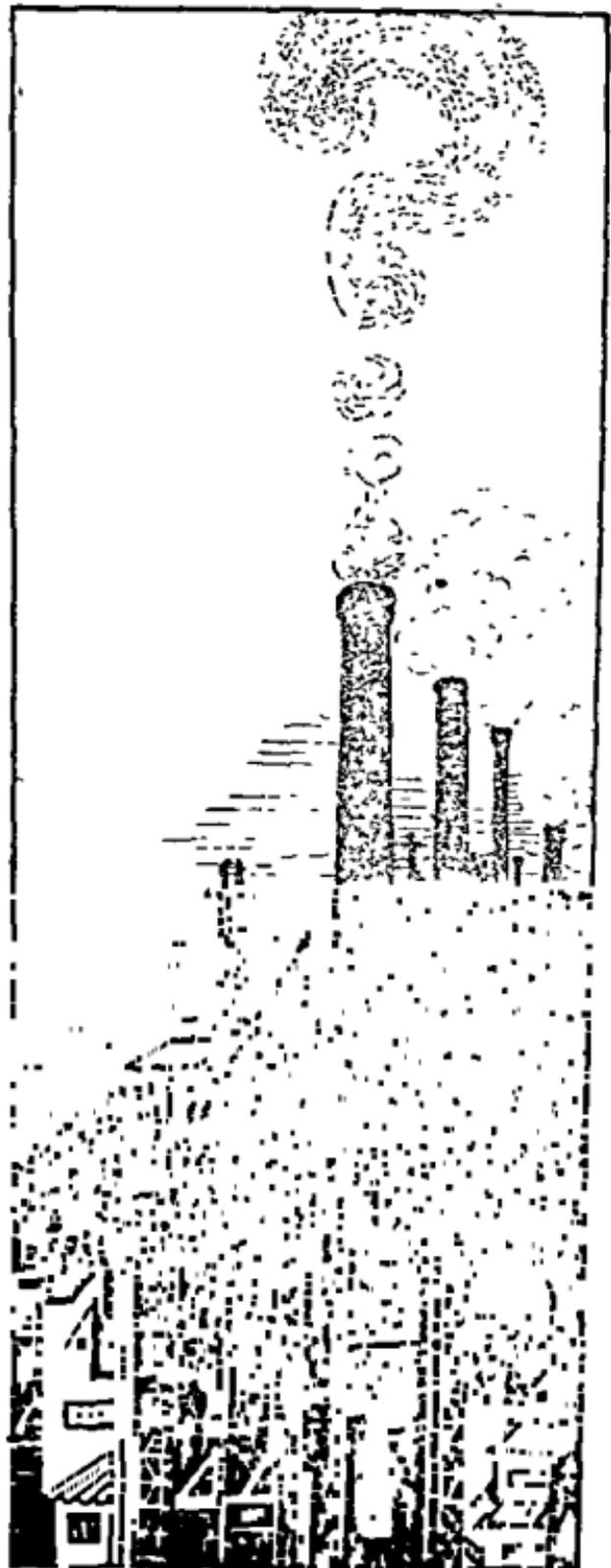
हुआ था जो घबराने के कारण उठ खड़े हुए और दरवाजे-खिड़कियां खोलकर बाहर की ओर भागे जिससे वे इन जहरीली गैसों के चपेट में पूर्णरूप से आ गए। हालत यह हुई कि भोपाल स्टेशन से उस समय गुजरने वाली रेलगाड़ियों में बैठे यात्री भी गैसों से प्रभावित होने लगे। सुबह के उजाले में जब लोगों ने अपने पास-पड़ौस में देखा तो पाया कि लाशों के अंबार लगे हुए हैं जिसमें मनुष्य ही नहीं गाय, भैंस, भेड़, बकरी, कुत्ते जैसे जानवर तथा पक्षी आदि भी बड़ी मात्रा में शामिल थे।

हजारों की संख्या में मरने वालों के अतिरिक्त लाखों की संख्या में ऐसे लोग भी हैं जो इन जहरीली गैसों के कारण असाध्य रोगों से पीड़ित हो गए। वे उनके दुष्परिणामों को अब भी सह रहे हैं।

किसी एक कारखाने द्वारा इतने घातक जहर उगलने की यह सबसे बड़ी और सबसे भयंकर दुर्घटना थी। वैसे जहरीली गैसों के वायुमंडल में मिल जाने और इस प्रकार वायु के दूषित हो जाने से होनी वाली दुर्घटनाओं की कमी नहीं है। वे होती ही रहती हैं। ऐसी दुर्घटनायें हमारे देश में ही नहीं अन्य देशों में भी समय-समय पर घटती रहती हैं और अगर समुचित प्रबन्ध नहीं किया गया तो वे भविष्य में भी घटती रहेंगी।

मुख्य कारण—वायु प्रदूषण मुख्य रूप से विभिन्न कारखानों से निकलने वाले जहरीले पदार्थों से होता है। पर केवल कारखाने ही वायु प्रदूषण के लिए जिम्मेदार नहीं हैं। मोटर वाहन, घरों में ईंधन का जलना, सड़े-गले पदार्थों, से उठने वाली गैसें आदि भी इसमें योग देती हैं। वायु प्रदूषण एक देश या क्षेत्र विशेष तक ही सीमित नहीं रहता वरन् वायु के प्रवाह के साथ-साथ प्रदूषण सारे वायुमंडल में व्याप्त हो जाता है। पर प्रदूषण स्रोत के पास ही प्रदूषणों की सांद्रता अधिक होती है और उससे जैसे-जैसे दूर जाते हैं सांद्रता कम होती जाती है। इसलिए स्रोत के पास ही लोगों के स्वास्थ्य पर इनके सबसे अधिक कुप्रभावपड़ते हैं।

व्यावहारिक रूप से वायु में जो प्रदूषक पाए जाते हैं उन्हें तीन वर्गों में बांटा जा सकता है: (1) प्रतिक्रियाकारी पदार्थ, (2) अत्यन्त सूक्ष्म कण जो काफी देर तक वायु में निलम्बित रह सकते है परन्तु अन्ततः

धूल के रूप में दीवारों, छतों या अन्य सतहों पर जम जाते हैं और (3) अपेक्षाकृत भारी कण जो जल्दी ही पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं।

कारखानों में से उच्छिष्टों के रूप में निकलने वाले पदार्थ आमतौर से प्रतिक्रियाकारी पदार्थ होते है। वैसे धुएं के रूप में सूक्ष्म कण भी काफी मात्रा में निकलते है। ये पदार्थ आमतौर से कारखानों के उत्पादन पर निर्भर करते है। उदाहरणार्थ आर्सेनिक युक्त खनिजों का उपयोग करने वाली फाउंड्रियों के आसपास आर्सेनिक युक्त वाष्प ही वायु में अधिक मिलती है। इसी प्रकार एलूमिनियम या सुफरफास्फेट बनाने वाली फैक्ट्रियों से फ्लोराइड धुआं निकलेगा और पाइराइटों के निस्तापन करने वाले कारखानों से सल्फर डाइआक्साइड। वैसे आमतौर से कारखानों से निकलने वाली प्रदूषक गैसों में कार्बन डाइआक्साइड, कार्बन मोनोआक्साइड, सल्फर डाइआक्साइड, सल्फर ट्राइआक्साइड, अमोनिया, हाइड्रोक्लोरिक एसिड गैस, क्लोरीन, वाष्प के रूप में

प्रदूषण गैसें पीड़ादायक ही नहीं, जहरीली भी होती हैं

विभिन्न फ्लोरोक्लोरोकार्बन यौगिक आदि होते हैं। कुछ परिस्थिति में कारखानों से फास्जीन, हाइड्रोसायनिक एसिड गैस, मिथिल आइसोसायनेट जैसी अत्यन्त जहरीली गैसें भी निकलती हैं। कुछ कारखानों से धातुओं के अत्यन्त सूक्ष्म कण भी निकलने लगते हैं।

घरेलू और औद्योगिक ईंधन (भट्टियों) के जलने से होने वाला प्रदूषण मुख्य रूप से दो बातों पर निर्भर करता है। पहली यह कि किस प्रकार का ईंधन प्रयुक्त किया जाता है और दूसरी यह कि उसे किस प्रकार जलाया जा रहा है। कोयले और खनिज तेल के जलाने से

कार्बन डाइआक्साइड, कार्बन मोनोआक्साइड और सल्फर डाइ-आक्साइड तथा धुआं और सूक्ष्म राख बनती है। इनमें से सल्फर डाइआक्साइड शीघ्र ही आक्सीकृत होकर सल्फर ट्राइआक्साइड में और फिर पानी के भाप के साथ क्रिया करके सल्फ्यूरिक एसिड (गंधक के तेजाब) में परिवर्तित हो जाती है। यह एसिड छोटी-छोटी बूंदकियों के रूप में वायुमंडल में फैल जाता है।

आमतौर पर एक टन कोयले को जलाने पर 0.05 टन प्रदूषक उत्पन्न होते हैं।

यदि ईंधन का पूर्ण दहन हो जाता है तब कार्बन और हाइड्रोकार्बनों के दहन से कार्बन डाइआक्साइड और पानी बनता है। परन्तु दहन कभी पूर्ण नहीं होता और अपूर्ण दहन के कारण कार्बन डाइआक्साइड के बदले वायुमंडल में कार्बन मोनोआक्साइड और अंशतः जले हाइड्रो-कार्बन मिलते हैं। ये हाइड्रोकार्बन स्वयं ईंधन में मौजूद होते हैं अथवा साइक्लिक पाइरिन यौगिकों के बनने के दौरान उत्पन्न होते हैं। इन अधजले पदार्थों में कई प्रकार के भारी अंश भी होते हैं जो अनेक प्रकार के कज्जल उत्पन्न करते हैं। इनमें से 3-4 बेन्जपाइरीन एक मुख्य कज्जल है।

हमारे देश में अब भी 98 प्रतिशत बिजली ताप बिजलीघरों में ही बनायी जाती है। इनमें मुख्य रूप से कोयला जलाया जाता है। वर्ष 1985-86 के दौरान ताप बिजलीघरों में लगभग 7.4 करोड़ टन कोयला इस्तेमाल किया था। जिस प्रकार देश में बिजली उत्पादन में वृद्धि करने के लिए योजनाएं बनायी जा रही हैं उनके अनुसार 1989-90 तक ताप बिजलीघरों की कोयला आवश्यकता बढ़कर 10.1 करोड़ टन हो जायेगी। यद्यपि हमारे कोयले में गंधक की मात्रा काफी कम (0.5 प्रतिशत) है पर फिर भी प्रति वर्ष ताप बिजलीघरों में जलाये जाने वाले कोयले से ही लगभग 3.7 लाख टन सल्फर डाइ-आक्साइड हमारे वायुमंडल में मिलती रहती है।

कुछ लोगों का कहना है कि यह अनुमान काफी कम है। उनका कहना है सुपर ताप बिजलीघर चालू हो जाने पर हर वर्ष 10 लाख टन सल्फर डाइआक्साइड वायुमंडल में मिलेगी।

सल्फर डाइआक्साइड के साथ ताप बिजलीघरों से काफी मात्रा में

नाइट्रोजन के आक्साइड, कार्बन मोनोआक्साइड और हाइड्रोकार्बन भी वायुमंडल में मिलते रहते हैं। इनके अतिरिक्त ये ताप बिजलीघर 2.21 करोड़ टन बारीक राख भी प्रति वर्ष वायुमडल में भेजते रहते हैं। एक ऐसे ताप बिजलीघर जिसकी उत्पादन क्षमता 200 मेगा वाट है, से निकलने वाले प्रदूषकों की मात्रा का आभास निम्न तालिका से हो सकता है। ऐसा बिजलीघर प्रतिदिन लगभग 1400 टन कोयला जलाता है।

प्रदूषक	उत्सर्जन	
	किग्रा. प्रति टन कोयला	टन प्रति दिन
एल्डीहाइड	0.0025	0.0035
कार्बन मोनोआक्साइड	0.25	0.35
हाइड्रोकार्बन	0.10	0.14
नाइट्रोजन के आक्साइड	10 00	14.00
गंधक के आक्साइड (कोयले में गंधक की मात्रा 0.5 प्रतिशत)	19	13 30
धूल कण (राख की मात्रा 33 प्रतिशत)	8	369 60
राख	2*	92.40

*प्रतिशत मात्रा

मोटर वाहन—डीजल और पेट्रोल से चलने वाले मोटर वाहनों से निकलने वाले प्रदूषक पदार्थ एक ही प्रकार के होते हैं। केवल इन इजनों की कार्य विधियां अलग-अलग होने से इनसे निकलने वाले प्रदूषकों की मात्रा में भिन्न-भिन्न होती है। डीजल इजन में इस्तेमाल होने वाला तेल पेट्रोल की अपेक्षा कम वाष्पशील होता है। दूसरे इस इजन में वायु का अधिक उपयोग होता है और इसके एग्जास्ट से आमतौर से घना, काला, दुर्गंधमय धुआं निकलता है।

पेट्रोल इंजन से सामान्य अवस्था में अधिक धुआं नहीं निकलता। पर उससे न दिखाई देने वाली जहरीली कार्बन मोनोआक्साइड निकलती है। वैसे दोनो, डीजल और पेट्रोल इंजनों से धुएं के साथ-

साथ कार्बन डाइआक्साइड, विभिन्न प्रकार के हाइड्रोकार्बन, नाइट्रोजन के आक्साइड और सल्फर डाइआक्साइड भी निकलती हैं।

प्रयोगों में पाया गया है कि एक हजार गैलन पेट्रोल का उपयोग करने में एक मोटर कार निम्नलिखित प्रदूषक वायुमंडल में उत्सर्जित कर देती है: कार्बन मोनोआक्साइड 3200 पौंड; कार्बनिक वाष्प 200-400 पौंड; नाइट्रोजन के आक्साइड 20-75 पौंड : विभिन्न एल्डीहाइड 18 पौंड; अमोनिया 2 पौंड; ठोस कण (जस्त और सीसे के यौगिक आदि) 0.3 पौंड।

इस संबंध में यह विचार गलत पाया गया है कि पेट्रोल से चलने वाले स्कूटरों और मोटरकारों की तुलना में डीजल से चलने वाली बस और ट्रक अधिक प्रदूषण फैलाती हैं। दिल्ली में हाल ही में किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार यह बात पूरी तरह सिद्ध हो चुकी कि दो पहिए और तीन पहिए वाले स्कूटर तथा मोटर कार ही अपेक्षाकृत अधिक प्रदूषक उत्सर्जित करते हैं।

इस बारे में यह भी गलतफहमी है कि डीजल इंजन में अधिक ईंधन छोड़ देने से उसी अनुपात में इंजन की कार्यक्षमता बढ़ जाती है। ऐसा एक निश्चित सीमा तक ही होता है। उसके बाद छोड़े जाने वाले ईंधन और शक्ति में होने वाली वृद्धि का अनुपात गड़बड़ा जाता है।

मोटर वाहनों के एग्जास्ट से निकलने वाले धुएं में लगभग एक माइक्रोन आकार के कार्बन के सूक्ष्म कण भी होते है। जब एक घन मीटर में इनकी सांद्रता 0.5 ग्राम से बढ़ जाती है तो धुआं भली भांति दिखाई देने लगता है। निश्चय ही ये सूक्ष्म कण ईंधन के अपूर्ण दहन के नतीजे हैं। मोटर कारों के एग्जास्ट में सीसे के वे यौगिक यथा टेट्राईथाइल लेड आदि—भी सूक्ष्म मात्रा में मौजूद होते हैं जो पेट्रोल में एन्टीनॉकिंग' यौगिकों के रूप में मिलाए जाते है।

डीजल इंजन से निकलने वाला गंध चिरमिराहट अथवा क्षोभ उत्पन्न करती है विशेष रूप से श्लेष्मा झिल्ली में। यह देखा गया है कि जब गाड़ी में भार अपेक्षाकृत अधिक या कम होता है या इंजन 'आइडलिंग' में अथवा उसके बाद के त्वरण के दौरान होता है तब क्षोभकारी गैसें अधिक निकलती हैं। मध्यम भार की दशा में एग्जास्ट से निकलने वाली गैसें सबसे कम क्षोभकारी होती हैं। पेट्रोल इंजनों से

निकलने वाली कार्बन मोनोआक्साइड की मात्रा उस समय सबसे अधिक होती है जब इंजन आइडलिंग की दशा में होता है पर जब इंजन की गति मंद पड़ रही होती है तब उसमें से हाइड्रोकार्बन ही सबसे अधिक मात्रा में निकलते हैं।

मोटर वाहनों के कारण आज संसार के विभिन्न बड़े शहरों के वायुमंडल में कितनी कार्बन मोनोआक्साइड व्याप्त हो गई है इसका आभास निम्न आंकड़ों से होता है। ये आंकड़े एक घन्टे के समय को दर्शाते हैं और वायु के 10 लाख भाग में कार्बन मोनोआक्साइड की औसतन मात्रा बताते हैं। वैसे कभी-कभी, थोड़े समय के लिए, यह मात्रा इन आंकड़ों से कहीं अधिक हो जाती है।

लंदन 58, शिकागो 46, लास एंजलिस 43, न्यूयार्क 27

वैसे हमारे देश के महानगरों की हालत इनसे अच्छी नहीं है, केन्द्रीय पर्यावरण इंजीनियरी अनुसंधान संस्थान, नागपुर, ने इस बारे में सर्वेक्षण किए हैं और कलकत्ता के वायुमंडल को कार्बन मोनो-आक्साइड से सबसे अधिक प्रदूषित पाया है।

बम्बई शहर में वायु प्रदूषण का प्रमुख कारण वहां के लगभग 5 लाख मोटर वाहन ही हैं तथा बम्बई का लगभग 50 प्रतिशत वायु प्रदूषण इनके तथा हर दिन लगभग 40,000 बाहर से आने वाले ट्रकों और बसों से ही होता है।

समझा जाता है कि आज संसार में सड़कों पर लगभग 20 करोड़ मोटर वाहन चल रहे हैं। वातावरण को ये नियमित रूप से दूषित कर रहे हैं। इस दूषित वातावरण में ही हमें सांस लेना पड़ता है। एक कार को 1000 किलोमीटर चलने के लिए उतनी ही आक्सीजन चाहिए जितनी एक मनुष्य को एक वर्ष तक सांस लेने के लिए।

हमारे देश में आमतौर से मोटर वाहनों की समुचित देखभाल नहीं की जाती। यद्यपि उनकी रखरखाव के लिए सरकार ने कानून बनाये हैं और भारतीय मानक संस्था ने मानक निर्धारित किए हैं पर बहुत कम वाहन ही उनका पालन करते हैं। केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड तथा भारतीय पेट्रोलियम संस्थान, देहरादून, द्वारा इस बारे में किए गए अध्ययनों से पता चला है कि केवल 38 प्रतिशत दुपहिये स्कूटरों, 53 प्रतिशत तिपहिये स्कूटरों और 24 प्रतिशत कारों और बसों से ही

3 प्रतिशत की निर्धारित अधिकतम मात्रा से कम कार्बन मोनो आक्साइड निकलती है। बाकी से इससे अधिक मात्रा में कार्बन मोनो-आक्साइड उत्सर्जित होती है। इसी प्रकार डीजल से चलने वाले अधिकांश वाहनों के एग्जास्ट से निर्धारित अधिकतम मात्रा से कहीं अधिक मात्रा में जहरीले पदार्थ निकलते हैं।

हानिकारी गैसें—अब देखें कि कौन-कौन-सी प्रमुख गैसें वायुमंडल में प्रदूषण बढ़ाने में सहायक होती हैं और ये हमें किस प्रकार हानि पहुंचाती हैं।

कार्बन डाइआक्साइड—यह जहरीली गैस नहीं है पर जीवित रहने में हमें सहायता भी नहीं पहुंचाती। जिस वातावरण में कार्बन डाइ आक्साइड की मात्रा अधिक हो जाती है उसमें हमारा दम घुटने लगता है। उसके बाद भी हम उस वातावरण में रहे तो जल्दी ही बेहोश हो जायेंगे और कुछ देर बाद मृत्यु भी हो सकती है।

वायुमंडल मे कार्बन डाइआक्साइड जीव-जंतुओं के सांस छोड़ने और कार्बनिक पदार्थों के जलने से आती है। जो वायु हम सांस के रूप में अंदर लेते हैं उसमें आमतौर से लगभग 20 प्रतिशत आक्सीजन होती है। पर जो वायु हम सांस के रूप में बाहर छोड़ते हैं उसमें 16 प्रतिशत आक्सीजन और लगभग 4 प्रतिशत कार्बन डाइआक्साइड होती है। यह कार्बन डाइआक्साइड विभिन्न शारीरिक क्रियाओं में उत्पन्न होती है।

कार्बनिक वस्तुओं के जलने के दौरान कार्बन आक्सीजन से संयोग करके कार्बन डाइआक्साइड बनाती है। कोयला, पेट्रोल, प्राकृतिक गैस, लकड़ी, गोबर आदि सब कार्बनिक पदार्थ हैं और जलाए जाने पर कार्बन डाइआक्साइड बनाते हैं। उद्योगों में होने वाली विभिन्न क्रियाओं से भी बड़ी मात्रा में कार्बन डाइआक्साइड उत्पन्न होती है।

पेड़-पौधे प्रकाश की उपस्थिति में कार्बन डाइआक्साइड ग्रहण करते है, उससे अपना भोजन बनाते है और आक्सीजन मुक्त करते हैं। पेड़-पौधों के इस गुण के फलस्वरूप ही प्राकृतिक रूप से वायुमंडल में कार्बन डाइआक्साइड का संतुलन बना रहता है। उसकी मात्रा बढ़ नहीं पाती।

वैसे सागर के पानी में भी काफी कार्बन डाइआक्साइड घुल जाती

है। परन्तु पिछले कुछ दशकों में, इंधन की खपत में बहुत अधिक वृद्धि होने तथा बढ़ते हुए औद्योगिकीकरण के परिणामस्वरूप कार्बन डाइ-आक्साइड के उत्पादन में बहुत तेजी से वृद्धि होती जा रही है। समझा जाता है कि आजकल प्रति वर्ष 18 खरब टन कार्बन डाइआक्साइड उत्पन्न हो रही है। यह मात्रा इतनी अधिक है कि न तो वनस्पति ही इसका पूरी तरह उपयोग कर पाती है और न ही सागर का पानी उसे घोल पाता है। इसलिए वायुमंडल में इसकी मात्रा तेजी से बढ़ रही है। यदि इसकी वृद्धि की दर यही रही तो सन् 2030 तक वायुमंडल में इसकी मात्रा दुगनी हो जाएगी जिसके परिणामस्वरूप वायुमंडल के ताप के 2 से 8° सें. तक बढ़ जाने की संभावना है। यदि ऐसा हो गया तो ध्रुव प्रदेशों की बर्फ पिघलने लगेगी और पृथ्वी के निचले भाग पानी में डूब जाएंगे। लोगों की यह धारणा कि पौधे चाहे जितनी आक्सीजन बना सकते हैं, सही नहीं है। कोई भी पौधा केवल उतनी ही आक्सीजन बनाता है जितनी का उपयोग उसे स्वयं अपने जीवन में करना है तथा जो मरने के उपरांत पौधे के आक्सीकरण द्वारा उसके मूल रचकों में परिवर्तित होने के लिए चाहिए।

वैज्ञानिकों का यह भी अनुमान है कि वायुमंडल में कार्बन डाइ-आक्साइड की मात्रा बढ़ जाने के फलस्वरूप फसलों में कीड़े लगने और रोग फैलने की संभावनायें भी बढ़ जायेंगी।

कार्बन मोनोआक्साइड—बन्द कमरों में जलती हुई कोयले की अंगीठी रखने के फलस्वरूप होने वाली 'सुखद' मृत्यु का कारण मुख्य रूप से कार्बन मोनोआक्साइड ही है। समझा जाता है कि द्वितीय महा-युद्ध के बाद होने वाली संसार की सबसे बड़ी रेल दुर्घटना (जिसमें न तो रेलगाड़ी किसी अन्य गाड़ी या वस्तु से टकराई थी, न ही इंजन पटरी से उतरा था और न ही कोई विस्फोट हुआ था) का कारण मुख्य रूप से कार्बन मोनोआक्साइड ही था। आक्सीजन की कमी वाले वातावरण में पदार्थों के जलने से उत्पन्न होने वाली कार्बन मोनोआक्साइड, रंगहीन, और स्वादहीन गैस होती है। यह हवा से हल्की होती है। इसके वाता-वरण में सांस लेने से मनुष्य को कोई कठिनाई नहीं होती। इसलिए मनुष्य उस वातावरण से भागने का प्रयत्न नहीं करता और 'धीरे' से इस अत्यन्त घातक गैस को अपने शरीर में पहुंचाता रहता है। इसकी

रक्त के हीमोग्लोबीन के साथ संयोग करने की क्षमता आक्सीजन से कहीं अधिक होने के कारण यह आक्सीजन को रक्त तक नहीं पहुंचने देती जिसके फलस्वरूप मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

सल्फर डाइआक्साइड : यह गैस औद्योगिक शहरों के वायुमंडल में अक्सर मौजूद होती है। वहां कभी-कभी इसकी मात्रा काफी अधिक हो जाती है। तब घरों में बैठे लोग भी इससे प्रभावित होने लगते हैं। इस रंगहीन गैस की गंध बहुत तीखी होती है और अधिक मात्रा में इसे सूंघ लेने पर श्वास नली में खराश पैदा हो जती है और सांस लेने में तकलीफ होने लगती है।

सल्फर डाइआक्साइड धातुओं, कपड़ों, पेन्ट आदि को भी प्रभावित करती है जिससे धातुओं की चमक समाप्त हो जाती है; कपड़े जर्जर हो जाते हैं और पेन्ट की चमक फीकी पड़ जाती है।

सल्फर डाइआक्साइड की क्षारण क्रिया गंधक के तेजाब के कारण होती है जो इस गैस की, हवा की उपस्थिति में पानी के साथ क्रिया करने के फलस्वरूप बनता है।

वायुमंडल में मौजूद सल्फर डाइआक्साइड का लगभग पांचवां अंश बादलों में मौजूद पानी की बुंदकियों में घुल जाता है और वर्षा के रूप में धरती पर बरस जाता है। वास्तव में सल्फर डाइआक्साइड ही 'अम्ल वर्षा, के लिए उत्तरदायी है। समझा जाता है कि सल्फर डाइआक्साइड स्वतन्त्र रूप से 12 घंटे से भी कम समय तक वायुमंडल में रहती है।

केन्द्रीय प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड के अनुसार वायु में सल्फर डाइ-आक्साइड की अधिकतम मात्रा, औद्योगिक क्षेत्रों में, 120 माइक्रोग्राम प्रति घन मीटर, आवासीय क्षेत्रों में 80 और संवेदनशील क्षेत्रों में 30 माइक्रोग्राम प्रति घन मीटर से अधिक नहीं होनी चाहिए। इससे अधिक हो जाने पर वह निश्चय ही मनुष्य के लिए हानिकारक हो सकती है।

वायु में सल्फर डाइआक्साइड शीघ्र ही सल्फर ट्राइआक्साइड में बदल जाती है। यह सल्फर डाइआक्साइड की तुलना में अधिक हानि-कारी होती है। सल्फर ट्राइआक्साइड वायु में मौजूद पानी की भाप से शीघ्र संयोग करके गंधक के तेजाब में बदल जाती है जिसका प्रभाव त्वचा, आंख, नाक, फेफड़ों और अन्य नाजुक अंगों पर पड़ता है।

यदि वायु में गंधक के तेजाब की मात्रा 1 मिलीग्राम प्रति घनमीटर

फास्जीन के प्रभाव से फेफड़ों में पानी जमा होने लगता है।
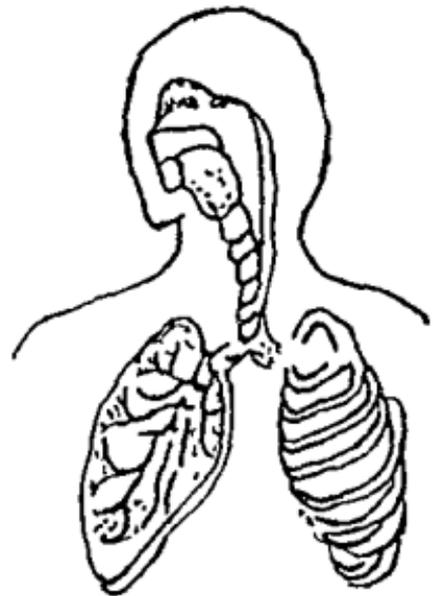
की अनुमेय (परमिसेबल) मात्रा से अधिक हो जाती है तो लोगों के लिए वह हानिकारक हो सकती है। वायु में ऊपर बताई गई मात्रा से अधिक गंधक का तेजाब हो जाने से लोगों को खांसी आने लगती है। यदि यह मात्रा 2.4 मिलीग्राम प्रति घनमीटर से अधिक हो जाती है तो खांसी बढ़ जाती है और 8 मिलीग्राम प्रति घन मीटर हो जाने पर सांस लेने में कठिनाई होने लगती है। निश्चय ही गंधक का तेजाब सल्फर डाइआक्साइड की तुलना में अधिक क्षोभकारी होता है।

राष्ट्रीय पर्यावरण इंजीनियरी अनुसंधान संस्थान, नागपुर, ने देश के अनेक शहरों यथा कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, मद्रास, अहमदाबाद, कानपुर, हैदराबाद, नागपुर, जयपुर, आदि में वायु प्रदूषण संबंधी अध्ययन किए हैं। इन अध्ययनों से इन शहरों के वायुमंडलों में उपस्थित सल्फर डाइआक्साइड, छतराए हुए धूल कणों और नाइट्रोजन के आक्साइडों की मात्रायें मालूम की गईं। इनमें पाया गया कि जहां तक सल्फर डाइआक्साइड का प्रश्न है, कलकत्ता के वायुमंडल में उसकी मात्रा सबसे अधिक है। वैसे बम्बई, दिल्ली, अहमदाबाद में भी उसकी मात्रा काफी है। पर किसी शहर में भी उसकी वार्षिक मात्रा 80 म्यू. ग्राम प्रति घन मीटर से अधिक नहीं है।

क्लोरीन : सल्फर डाइआक्साइड की तुलना में लोग क्लोरीन से

अधिक परिचित है क्योंकि क्लोरीन का उपयोग जल में उपस्थित जीवाणुओं को मारने के लिए किया जाता है। वैसे क्लोरीन का उपयोग ब्लीचिंग पाउडर, कीटनाशक, कृत्रिम रबड़, प्लास्टिक आदि के निर्माण में भी किया जाता है।

हरित पीले रंग की क्लोरीन अनेक रासायनिक क्रियाओं में उपजात के रूप में बनती है। भुने हुए क्लोराइडों का धात्विक क्लोराइडों के जलीय घोलों के विद्युत अपघटन से कास्टिक सोडा बनाते समय बड़ी मात्रा में क्लोरीन प्राप्त होती है।

हवा में इसकी मिलावट इसकी विशिष्ट गंध से पहचानी जाती है। हवा में क्लोरीन की मात्रा 30 भाग प्रति 10 लाख भाग या उससे अधिक हो जाने पर लोगों को खांसी आने लगती है। क्लोरीनयुक्त गैस में श्वास लेने से फेफड़ों में सूजन आ जाती है जो घातक भी सिद्ध हो सकती है। युद्ध में शत्रु सेना को हताहत करने के लिए भी इसका उपयोग, युद्ध अस्त्र के रूप में भी किया जाता है।

अमोनिया : वह एक तीखी गंध वाली गैस है जो पानी में अत्यधिक घुलनशील है। बाजार में या प्रयोगशाला में आमतौर से अमोनिया के रूप में हमें जो वस्तु मिलती है वह अमोनिया का जलीय घोल होता है। इस घोल से अमोनिया निरन्तर मुक्त होती रहती है। विस्फोटकों, उर्वरकों, कृत्रिम रेशों और विभिन्न रसायनों के निर्माण में बड़े पैमाने पर इस्तेमाल होने वाली अमोनिया गैस मनुष्य के लिए हानिकारी है। यदि इसकी मात्रा वायु में 53 भाग प्रति 10 लाख भाग से अधिक हो जाती है तो वह वायु हानिकारी हो सकती है। अमोनिया से हमारी श्वास नली को हानि पहुंचती है और दम घुटने लगता है।

हाइड्रोक्लोरिक एसिड गैस : यह एक रंगहीन गैस है जो पानी में अत्यधिक घुलनशील है। इसका जलीय घोल ही वह हाइड्रोक्लोरिक एसिड है जो अनेक उद्योगों में बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया जाता है। यदि इस गैस की मात्रा वायु में 5 भाग प्रति 10 लाख भाग से अधिक हो जाती है तो श्वास लेने में दिक्कत होने लगती है और आंखों में जलन पैदा हो जाती है।

फास्जीन : भोपाल गैस कांड मुख्य रूप से फास्जीन और मिथिल आइसोसायनेट गैसों के मिश्रण के कारण हुआ था। फास्जीन एक

अत्यन्त जहरीली गैस है जिसकी हवा में अनुमेय मात्रा 0.1 भाग प्रति 10 लाख भाग है। यदि फास्जीन की मात्रा इससे अधिक बढ़ जाती है, तब लोगों पर उसके कुप्रभाव स्पष्ट रूप से नजर आने लगते हैं। आंखों में जलन उत्पन्न हो जाती है और उनसे पानी बहने लगता है : सांस में रुकावट पैदा होने लगती है और फेफड़ों में पानी जमा होने लगता है जिससे मनुष्य की मृत्यु तक हो सकती है।

रंगहीन से हल्के पीले रंग की तक तीखी फास्जीन जहरीली होते हुए भी एक अत्यन्त उपयोगी गैस है। इसका उपयोग अनेक कार्बनिक यौगिकों, विशेष रूप से आइसोसायनेट, पालीयूरेथीन, कार्बोमेट आदि के संश्लेषण में तथा पीड़कनाशियों, बूटीनाशियों तथा रंजकों के निर्माण में होता है।

मिथिल आइसोसायनेट—जैसा कि ऊपर बताया गया है भोपाल गैस की दुर्घटना में मिथिल आइसोसायनेट भी बहुत हद तक उत्तरदायी थी। यह हवा से भारी होती है और इस कारण जमीन की सतह के पास ही रह जाती है, ऊपर नहीं उठ पाती। इस कारण हवा में इसकी मिलावट काफी समय तक रही आती है। पहले यह समझा जाता था कि मिथिल आइसोसायनेट घातक नहीं होती केवल पीड़ादायक होती है परन्तु अब प्रयोगों से पता चला कि वह बहुत जहरीली और प्राण हरने वाली गैस है। हवा में इसकी मिलावट हो जाने से सास लेने में तकलीफ होती है, फेफड़े फूल जाते है, उनमें पानी भर जाता है और मस्तिष्क को रक्त नहीं पहुंच पाता। यदि रक्त पहुंचता भी है तो उसमें आक्सीजन की कमी होती है।

अब देखें कि हमारे कुछ प्रमुख शहरों में वायु प्रदूषण की क्या स्थिति है। निम्न तालिका में अहमदाबाद, कलकत्ता, दिल्ली, हैदराबाद, जयपुर, कानपुर, मद्रास और नागपुर के वायुमंडलों में 24 घंटे के दौरान पायी जाने वाली सल्फर डाइआक्साइड, नाइट्रोजन डाइ-आक्साइड, हाइड्रोजन सल्फाइड गैसों तथा महीन कणों की मात्रायें दी गई हैं। तालिका में गैसों की मात्रायें दस लाख भाग वायु में दी गई हैं और धूल कणों की मात्रा माइक्रोग्राम प्रति घन मीटर में।

	सल्फर डाइआक्साइड	नाइट्रोजन डाइआक्साइड	हाइड्रोजन सल्फाइड	महीन कण
अहमदाबाद	0.0105	0.0109	—	504.7
कलकत्ता	0.0664	0.0556	—	663.4
दिल्ली	0.133	0.019	0.001	996.8
हैदराबाद	0.09	0.0096	—	219.7
जयपुर	0.005	0.0067	—	1114.0
कानपुर	0.06	0.012	—	1567.4
मद्रास	0.018	0.06	0.016	103.3
नागपुर	0.0136	0.034	—	420.7

समझा जाता है कि संसार में सबसे अधिक प्रदूषित शहर तोक्यो है। वहां कल-कारखानों, मोटरगाड़ियों आदि से प्रति वर्ग किलोमीटर में प्रति मास 34 टन कालिख गिरती है। वहां धूम-धुंध (स्मोग) की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है। ऐसे दिनों में स्कूली बच्चे मुंह पर महीन जाली पहनते हैं। किन्तु सावधानियों के बावजूद लगभग 20 प्रतिशत शिशु आंख, नाक और गले की व्याधियों से पीड़ित हो जाते हैं। धूम-धुंध के कारण ही वहां से वर्ष में केवल 40 दिन ही फ्यूजी पर्वत दिखलाई देता है। नगर के परम्परागत रूप से विख्यात चैरी वृक्ष कब के प्रदूषणों के शिकार बन चुके हैं।

कहा जाता है कि तोक्यो की वायु इतनी अधिक प्रदूषित हो चुकी है कि ट्रैफिक सिपाहियों को थोड़ी-थोड़ी देर बाद, नियमित रूप से आक्सीजन सूंघने जाना पड़ता है।

धूम धुंध—वायु प्रदूषण पर मौसम का भी प्रभाव पड़ता है। शीत ऋतु में, विशेष रूप से ठंडे प्रदेशों में, वायुमंडल की निचली परतों में वायु का ताप कम होता है पर ऊपरी परतों का अधिक। ऐसे में धुआं जब कोहरे के साथ मिल जाता है तो वह ऊपर नहीं उठ पाता और बनता है 'स्मोग' (धूम-धुंध)। इससे प्रदूषक पदार्थ भी वायुमंडल की निचली सतह ही रहे आते हैं। यह परिस्थिति काफी गंभीर होती है। यदि प्रदूषकों में सल्फर डाइआक्साइड भी मौजूद होती है तो स्थिति गंभीरतर हो जाती है।

लंदन, न्यूयार्क तथा रूस के अनेक शहरों में धूम-धुंध का निर्माण

एक आम बात है। इसके कारण अनेक सड़क और रेल दुर्घटनायें तो होती ही हैं लोगों को श्वास नलिकाओं के रोग भी हो जाते हैं।

भाग्य से हमारे देश में धूम-धुंध की घटनायें बहुत कम होती हैं।

ओजोन की परत का ह्रास : आज पृथ्वी पर वायु प्रदूषण इस हद तक बढ़ गया है कि जीवधारियों को स्थायी रूप से हानि पहुंचने की आशंका होने लगी है। उससे पृथ्वी की रक्षा करने वाले ओजोन 'कवच' के नष्ट होने का खतरा उत्पन्न हो गया है।

ओजोन हल्के नीले रंग की गैस है जिसे रसायनज्ञ आक्सीजन का त्रिपरमाण्विक रूप कहते हैं क्योंकि उसके एक अणु का निर्माण आक्सीजन के तीन परमाणुओं से होता है। आमतौर से वह आक्सीजन में से विद्युतधारा प्रवाहित करने अथवा परावैंगनी किरणों की क्रिया के फलस्वरूप बनती है। वैसे ओजोन के गुण आक्सीजन के गुणों से बहुत भिन्न होते हैं। वह जहरीली गैस होती है।

हमारे वायुमंडल में, पृथ्वी के धरातल से 15 से 30 किलोमीटर ऊंचाई पर, वायु की एक ऐसी परत है जिसमें ओजोन की मात्रा काफी अधिक है। इसलिए आमतौर से वायुमंडल को इस परत को 'ओजोन मंडल' या 'ओजोन परत' कहते हैं। यह परत सूर्य से आने वाली किरणों में से परावैंगनी किरणों को अवशोषित कर हमारे जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों की रक्षा करती है। ये परावैंगनी किरणें जीवों के लिए बहुत हानिकारी होती हैं। अगर ये हम तक पहुंच जायें तो हम अनेक चर्म रोगों से पीड़ित हो सकते हैं और हमें कैंसर जैसे भयंकर रोग हो सकते है। पेड़-पौधे तथा सूक्ष्मजीव तो परावैंगनी किरणों के प्रभाव से मर भी सकते हैं।

मजेदार बात यह है कि इस ओजोन परत का निर्माण परावैंगनी किरणों के फलस्वरूप—आक्सीजन अणुओं से परावैंगनी किरणों के क्रिया करने के फलस्वरूप ही हुआ है पर इन्हीं किरणों के प्रभाव से ओजोन विघटित भी होती रहती है। आक्सीजन अणुओं पर जब परावैंगनी किरणें पड़ती हैं तो वे टूटकर आक्सीजन परमाणुओं में बदल जाते हैं। ये परमाणु आक्सीजन के ही अन्य अणुओं से संयुक्त होकर ओजोन के अणु बनाते हैं। साथ ही जब ओजोन अणुओं पर परावैंगनी किरणें पड़ती हैं तो वे आक्सीजन के परमाणुओं में टूटने

लगते हैं पर फिर उन्हीं (आक्सीजन के) परमाणुओं से मिलकर ओजोन के अणु बना लेते हैं। इस प्रकार इस 'निर्माण-विघटन-पुनः निर्माण' चक्र के फलस्वरूप पृथ्वी के ऊपरी वायुमंडल में ओजोन की मात्रा पूर्ववत बनी रहती है। करोड़ों वर्षों से यह स्थिति चली आ रही है।

पर अब वायु प्रदूषकों, विशेष रूप से फ्लोरोक्लोरो कार्बन यौगिकों (जिन्हे आमतौर से 'फ्लोरो कार्बन' कहा जाता है) के कारण स्थिति बदलने लगी है। मुख्य रूप से एयरोसोल प्रोपेलेन्ट के रूप में वायुमंडल में विसर्जित किए जाने वाले इन फ्लोरोकार्बन यौगिकों में क्लोरीन भी होती है। यह क्लोरीन ओजोन अणुओं को विघटित कर देती है। विघटन की यह दर ओजोन अणुओं के पुनः निर्माण की दर से कहीं अधिक तेज होती है। फलस्वरूप ओजोन नष्ट होने लगती है।

समझा जाता है कि आजकल वायुमंडल में ओजोन-विघटनकारी प्रदूषकों की दर काफी तेजी से बढ़ रही है। फ्लोरोक्लोरो कार्बनों की वार्षिक मात्रा में 2.5 प्रतिशत, कार्बन डाइआक्साइड की 0.6 प्रतिशत नाइट्रस आक्साइड की 0.25 प्रतिशत और मीथेन की मात्रा में 1.0 प्रतिशत की दर से वृद्धि हो रही है। इससे ओजोन की परत पर जो कुप्रभाव पड़ रहे हैं और फलस्वरूप पृथ्वी तक पहुंचने वाली परा-बैंगनी किरणों की मात्रा में जो वृद्धि हो रही है यदि वह इसी दर से होती रही तो, समझा जाता है कि सन 2074 तक—अगले लगभग 90 वर्षों में—4 करोड़ और व्यक्तियों को त्वचा कैंसर हो जाएगा और 8 लाख और लोगों की मृत्यु हो जाएगी। साथ ही जलीय जन्तुओं की बड़ी संख्या में मृत्यु होने लगेगी।

घातक मात्रा—ऊपर आपने ऐसी गैसों और पदार्थों के बारे में पढ़ा जो विषैले हैं और हमारे शरीर को हानि पहुंचाते हैं। पर हर पदार्थ की विषाक्तता एक समान नहीं होती। कोई पदार्थ अत्यंत विषैला होता है और कोई कम विषैला। किसी के भक्षण कर लेने या सूंघने से तत्काल मृत्यु हो जाती है और कुछ से हमारे स्वास्थ्य को मामूली हानि पहुंचती है। इसी प्रकार कुछ पदार्थ अगर थोड़ी मात्रा में खाये या श्वास के साथ शरीर के अंदर ले लिए जाते हैं तो हमें बहुत कम हानि होती है। यदि इन्हीं पदार्थों की काफी मात्रा शरीर में पहुंच जाती है तो मृत्यु अवश्यम्भावी हो जाती है। यह जानने के लिए कौन-सा पदार्थ अधिक जहरीला

हैं अथवा किस जहरीले पदार्थ की कितनी मात्रा के परिणाम घातक हो सकते हैं वैज्ञानिकों ने विषैले पदार्थों को मोटे तौर से दो वर्गों में बांटा है : 'घातक पदार्थ' और 'विषैले पदार्थ'। उन्होंने प्रयोगों द्वारा हर विषैले पदार्थ की घातक मात्रा का पता लगाया। यहां यह स्पष्ट करना जरूरी होगा कि 'घातकता' का अर्थ है निश्चित रूप से मृत्यु जबकि 'विषाक्तता' या 'जहरीलेपन' का अर्थ है 'विष के कुप्रभाव' जिनके फलस्वरूप मृत्यु तक भी हो सकती है।

जहां तक किसी पदार्थ की 'घातक मात्रा' का प्रश्न है वैज्ञानिकों ने एक नयी परिभाषा बनाई है। वे उसे 'घातक मात्रा—50' (लीथल डोज—50' या 'एल. डी.—50') कहते हैं। किसी पदार्थ की घातक मात्रा—50 "वह न्यूनतम मात्रा है जिसे ग्रहण करने के फलस्वरूप प्रयोगाधीन जीवों में से पचास प्रतिशत की मृत्यु हो जाये।"

किसी पदार्थ की कम से कम घातक मात्रा (एल. डी.—50) ज्ञात करने के लिए दो जातियों के जानवरों पर प्रयोग किए जाते हैं और एक जाति के, 10 जानवर, जिनमें नर और मादा दोनों शामिल हों, लिए जाते हैं। उन्हें एक बार विषैला पदार्थ खिलाया जाता है। पदार्थ की खुराक की मात्रा इस प्रकार निर्धारित की जाती है कि उसके खाने से कम से कम तीन जानवरों की 'अवलोकन अवधि' (कम से कम 7 दिन), के भीतर ही मृत्यु हो जाए। यदि विषैले प्रभावों के लम्बे समय तक शरीर में, रहने की आशंका होती है तब अवलोकन अवधि बढ़ा दी जाती है। बार-बार प्रयोग करके खुराक की ऐसी मात्रा ज्ञात कर ली जाती है जिनसे 10 में से 90 प्रतिशत जानवरों की मृत्यु हो सके। बाद में ऐसी औसत मात्रा की गणना कर ली जाती है कि जिससे सब जानवरों की मृत्यु हो जाए।

इन प्रयोगों में एक जानवर को एक ही बार इस्तेमाल किया जाता है।

किसी पदार्थ के एल. डी.—50 मान की जानकारी उस के प्राथमिक मूल्यांकन के लिए अथवा यह जानने के लिए जरूरी होती है कि जानबूझकर या अनजाने हो उस पदार्थ-विशेष को बड़ी मात्रा में ग्रहण कर लेने के क्या प्रभाव होते हैं। गैस रिसाव आदि की दुर्घटनाओं में अनजाने ही हम किसी विषैली गैसों को एकदम, बहुत अधिक

में ग्रहण कर लेते हैं। यदि किसी पदार्थ की काफी मात्रा ग्रहण कर लेने से भी किसी व्यक्ति जानवर की तत्काल मृत्यु नहीं होती तब उस पदार्थ के कुप्रभावों का लम्बे समय तक अध्ययन किया जाता है।

कभी-कभी एल. डी.—50 ज्ञात करने के लिए विषैला पदार्थ जानवरों की त्वचा में प्रविष्ठ करा दिया जाता है अथवा उसकी आंखों पर या श्लेष्मा झिल्ली पर लगाया जाता है और उसके अध्ययन किए जाते है।

घातकता/विषाक्तता के परीक्षण आमतौर से चूहों और खरगोशों पर किए जाते हैं। श्वास के रूप में ग्रहण किए जाने वाले पदार्थों का आमतौर से चूहों पर किया जाता है जबकि त्वचा के माध्यम से प्रविष्ठ कराये जाने वाले या आंखों पर लगाये जाने वाले पदार्थों के विषाक्तता परीक्षण खरगोशों पर किए जाते हैं। विषैली गैस/वाष्प/धूलि आदि के परीक्षणों के लिए चूहों को, इन पदार्थों को, 4 घंटों तक ग्रहण करने के लिए विवश किया जाता है।

इन परीक्षणों के निष्कर्षों से किसी विषैले पदार्थ की वह सूक्ष्मतम मात्रा ज्ञात कर ली जाती है जिसको ग्रहण करने से प्रयोगाधीन जीवों में से 50 प्रतिशत की मृत्यु हो जाती है।

किसी पदार्थ की 'तात्कालिक' (एक्यूट) घातक मात्रा ज्ञात करने के लिए उसकी वह सूक्ष्मतम मात्रा ज्ञात की जाती है जिसके ग्रहण करने से सब प्रयोगाधीन जीवों की मृत्यु हो जाती है।

अत्यंत सूक्ष्म मात्रा में किन्तु लम्बी अवधि—वर्षों तक—लगातार इस्तेमाल किए जाने वाले पदार्थों के विषैले प्रभावों की भी जांच की जा सकती है। शृंगार प्रसाधनों अथवा खाद्य रंगों में उपस्थित विषैले पदार्थ इसी श्रेणी में आते हैं। इन पदार्थों से मृत्यु नहीं होती पर ये शरीर में अनेक व्याधियां उत्पन्न कर देते है।

वायु के बाद हमारे लिए सबसे आवश्यक वस्तु है जल। कुछ लोग तो जल को इतना अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं कि उनके विचार से 'जल ही जीवन है।' पर आज वह भी भयंकर रूप से प्रदूषित हो रहा है। अगले अध्याय में उसी की चर्चा करेंगे।

3. जल प्रदूषण

पृथ्वी के लगभग 71 प्रतिशत भाग में जल है और 29 भाग में थल। मनुष्य का विकास थल पर ही हुआ है और लगभग सब मनुष्य अपना सम्पूर्ण जीवन थल पर ही बिताते हैं। इससे पृथ्वी के इस 71 प्रतिशत जल पर आमतौर से हम पर्याप्त ध्यान नहीं देते। पृथ्वी की सतह पर 129.6 करोड़ घन किलोमीटर पानी है। उसके नीचे भी लगभग 80 लाख घन किलोमीटर पानी भरा हुआ है और उसके वायुमंडल में लगभग 12,500 घन किलोमीटर पानी भाप के रूप में मौजूद है।

जब पृथ्वी बनी तो पानी की कमी नहीं थी और वैज्ञानिकों का यह मत है कि पृथ्वी का प्रथम जीवधारी का जन्म पानी में ही हुआ था। वहीं उसका विकास हुआ और वहीं उसमें उत्परिवर्तन के बाद नये किस्म के जीव पैदा हुए। पानी आज भी सब जीव-जंतुओं को जीवित रहने के लिए चाहिए। कुछ बैक्टीरिया हवा के बिना तो जिन्दा रहते पाये गए हैं पर पानी उन्हें भी चाहिए। वैसे पानी के अंदर सागर में रहने वाले जीवों की जातियां और संख्या थलीय जीवों से बहुत अधिक है। समझा जाता है कि पृथ्वी के पांच जीवों में से चार सागर में पाए जाते हैं।

हमारे शरीर का 65 प्रतिशत भाग पानी ही है। वैसे कुछ दुबले-पतले लोगों के शरीर का 70 प्रतिशत भाग और स्त्रियों के शरीर का 52 प्रतिशत भाग पानी ही होता है। हमारी कोशिकाओं के साइटोप्लाज्म का 90 प्रतिशत भाग पानी ही है। हमारे मस्तिष्क मे 74.5 प्रतिशत, गुर्दों में 82.7 प्रतिशत, मांसपेशियों में 75.6 प्रतिशत और रक्त में 83 प्रतिशत तक पानी होता है। हमारी अस्थियों में, जिन्हें हम बिल्कुल 'सूखा' कहते हैं, 22 प्रतिशत पानी होता है।

इसी प्रकार अन्य जीव-जन्तुओं के शरीर में भी बहुत पानी होता

है। मुर्गी में 74 प्रतिशत, मेंढक में 78 प्रतिशत और जैली फिश में 95 प्रतिशत पानी होता है। साग-सब्जियों में भी पानी की मात्रा तीन-चौथाई से ज्यादा होती है।

हमें औसतन हर दिन 2.4 लीटर पानी पीना होता है। गर्मी के दिनों में वह मात्रा काफी अधिक हो जाती है क्योंकि पसीने से होने वाले जल-ह्रास की पूर्ति करना जरूरी होता है। आमतौर से इस पानी का आधा भाग हमें भोजन के रूप में मिल जाता है।

पृथ्वी पर वायु हर जगह उपलब्ध है पर पानी विशेष रूप से मीठा पानी (मृदु जल) नहीं। पृथ्वी पर उपस्थित पानी की विशाल मात्रा का लगभग 97 प्रतिशत भाग सागरों में है। उसमें घुले लवणों की मात्रा लगभग 4 प्रतिशत है। उनसे वह इतना खारी हो गया है कि हम उसे न तो पी सकते हैं न उससे भोजन पका सकते हैं और न ही उससे कपड़े धो सकते हैं। यहां तक कि उससे न तो सिंचाई की जा सकती है और न ही उसे उद्योगों में इस्तेमाल किया जा सकता है।

बाकी तीन प्रतिशत पानी का भी अधिकांश भाग ध्रुवीय प्रदेशों में बर्फ के रूप में फंसा पड़ा है। इस प्रकार हमारे उपयोग के लिए पृथ्वी पर उपस्थित कुल पानी का लगभग एक प्रतिशत भाग ही बचता है। यह पानी नदियों, तालाबों, झीलों, कुओं आदि में मौजूद है। इस पानी का भी काफी बड़ा भाग या तो पीने लायक नहीं या हम उसका सही उपयोग नहीं कर पा रहे हैं।

इस प्रकार के पृथ्वी पर इतनी बड़ी मात्रा में पानी उपलब्ध होने के बावजूद हमारे लिए पानी की कमी रहती है। इसीलिए मनुष्य ने जब स्थायी आबादी बनाकर रहने की बात सोची तो नदी या जलाशयों के निकट के स्थल ही ऐसी आबादी स्थापित करने के लिए उपयुक्त पाए गए। नदियों के निकट ही प्राचीन सभ्यतायें विकसित हुई और आज भी हम उनका नामकरण उन नदियों के नाम पर करते हैं जिनके निकट वे विकसित हुई थीं।

जल प्रदूषण के कारण : अब विडम्बना यह है कि पृथ्वी पर हमारे उपयोग के लिए उपलब्ध पानी की थोड़ी मात्रा को भी हम अत्यंत तेजी से प्रदूषित किए जा रहे हैं। जल भंडारों के तेजी से प्रदूषित होने की एक मुख्य कारण है पानी के अपने रासायनिक और जैविक गुण।

रसायनज्ञों की दृष्टि से पानी एक अत्यंत विलक्षण द्रव है : पानी की रासायनिक संरचना के आधार पर वे उसमें जिन गुणों के पाये जाने का अनुमान लगाते हैं वास्तव में पानी के गुण उनसे कहीं भिन्न हैं। पानी की घुलनशीलता बहुत अधिक है। यदि उपयुक्त समय दिया जाए तो वह किसी भी अकार्बनिक पदार्थ को घोल सकता है। पानी सागर और नदी के तटों पर स्थित चट्टानों को थपेड़े मार-मार तोड़ता ही नही धीरे-धीरे अपने में घोल भी लेता है। पानी के इसी गुण के कारण सागर, जिनकी उम्र लगभग तीन अरब वर्ष आंकी जाती है, के पानी में इतनी अधिक मात्रा में लवण घुले हुए है। समझा जाता है कि सागर के पानी में लगभग 96 प्रतिशत जल और 4 प्रतिशत घुले हुए लवण होते हैं। उसमें 60 से भी अधिक प्राकृतिक तत्वों के लवण तथा अनेक गैसे घुली हुई हैं।

पानी की अद्भुत विलेयन क्षमता के फलस्वरूप, परोक्ष रूप से, पौधों को पोषक तत्व प्राप्त होते हैं। पोषक तत्व अनेक बार पानी में घोल के रूप में जड़ों तक पहुंचते हैं। साथ ही अगर वे पानी में घुले ही नही होते हैं तो पेड़ों की जड़े उन्हें ग्रहण नहीं कर पातीं। वैसे जो बात पौधों पर लागू होती है वही मनुष्य और अन्य जीवों पर भी ठीक उतरती है। पोषक पदार्थ उस समय तक हमारे रक्त में नहीं मिल सकते जब तक वे पानी में धुले हुए न हों।

पानी की अद्वितीय घुलनशीलता जहां एक ओर हमें जीवित रखती है, पेड़-पौधों को जीवन दान देती है वहीं दूसरी ओर अनेक जहरीले पदार्थों को भी घोल देती है। ये पदार्थ पानी को पीने के अयोग्य बना देते हैं।

जैसा कि आप ऊपर पढ़ चुके हैं पानी के बिना कोई भी प्राणि जीवित नहीं रह सकता। इन में वे सूक्ष्मजीव भी शामिल है जो हमें हानि पहुंचाते हैं, हमारे शरीर को रोगी बनाते हैं और हमें काल का ग्रास भी बना सकते हैं। दूसरे शब्दों में पानी हानिकारी सूक्ष्म-जीवों को भी प्रश्रय देता है। हैजा, पोलिया, टायफायड आदि घातक रोगों को पैदा करने वाले सूक्ष्मजीव पानी के माध्यम से ही हमारे शरीर में पहुंचते हैं। साथ ही पानी में ऐसे बहुत से कीड़े पलते हैं जो हमारे लिए हानिकारी होते हैं।

घोलने के अतिरिक्त पानी अनेक पदार्थों को निलम्बन के रूप में भी अपने साथ ले जाता है। इस प्रकार पानी के गुण उसे भारी मात्रा में निर्जीव और जैव प्रदूषक वहन करने और उन्हें फैलाने में मदद देते हैं।

इसी गुण के कारण भूमिगत जल में भी अनेक ऐसे पदार्थ घुले पाए जाते हैं जो हमारे लिए हानिकारी होते हैं। साथ ही इनकी बहुत अधिक मात्रा पानी में घुली होती है। दिल्ली क्षेत्र में ही ऐसे अनेक कुंए हैं जिनका पानी पीने लायक नहीं है। इसी गुण के कारण भूमिगत जल में फ्लोराइड, नाइट्रेट, लोह लवण, मैंगनीज यौगिक, भारी धातुओं के लवण आदि इतनी अधिक मात्रा में पाए जाते हैं जो हमारे लिए हानिकारी हो सकते हैं।

दिल्ली के ग्रामीण क्षेत्र में 600 से अधिक कुओं का निरीक्षण करने पर पाया गया है कि लगभग 10 प्रतिशत कुओं का पानी ही पीने योग्य है।

इन कुओं के पानी में घुले लवणों की मात्रा इस प्रकार है। ये मात्रा दस लाख भाग पानी में है। इनके साथ ही पेय जल में इन लवणों की अधिकतम स्वीकृत मात्राएं भी दी गई हैं।

	मौजूद मात्रा	पेय जल में स्वीकृत मात्रा
फ्लोराइड	1.5—16.0	1.0 से कम
लोहे के लवण	1.0—10.0	0.3 से कम
नाइट्रेट	1.00—400	50 से कम
घुले हुए लवण	1000—3000	1000 से कम

समस्या केवल दिल्ली की ही नहीं है। अन्य स्थानों पर वह कहीं अधिक गंभीर है। आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, पंजाब और हरियाणा के अनेक जिलों में कुओं के पानी में फ्लोराइड की मात्रा बहुत अधिक है। इसी प्रकार मध्य प्रदेश, राजस्थान और तमिलनाडु में अनेक स्थानों के भूमिगत जल में नाइट्रेट—नाइट्रोजन की मात्रा इतनी अधिक है कि उसे केवल नाइट्रोजन उर्वरकों के बह आने के आधार पर ही नहीं समझाया जा सकता।

लुधियाना में इलेक्ट्रोप्लेटिंग करने वाले और सूती तथा ऊनी कपड़े बुनने वाले कारखानों की संख्या बहुत अधिक है। परन्तु वहां, इन कारखानों से निकलने वाले बेकार पानी, जिसमें अनेक जहरीले रसायन मौजूद होते हैं, उसके बहने के लिए नालियों आदि की समुचित व्यवस्था नही है। इसलिए वह पानी कारखानों के पास ही जमा होता रहता है और नीचे जमीन में सोझकर भूमिगत पानी में जा मिलता है। इसी भांति तमिलनाडु की अधिकांश टैनरियों से निकलने वाला हानिकारी व्यर्थ पानी भी भूमिगत पानी को प्रदूषित कर रहा है। खेत्री तांबा परियोजना क्षेत्र (राजस्थान) के आसपास के इलाकों के भूमिगत पानी में जस्त, कोबाल्ट, मालीब्डेनम, चांदी और स्ट्रांशियम की मात्रायें अनुमेय अधिकतम से कहीं अधिक पाई गई हैं।

पानी के सूक्ष्मजीवों को वहन कर सकने के गुण के फलस्वरूप ही हमारे ग्रामीण क्षेत्रों के अधिकतर कुओं में कालीफार्म और एन्टकोराकाई जैसे सूक्ष्मजीव काफी अधिक मात्रा मौजूद पाए जाते हैं। इन तथा अन्य सूक्ष्मजीवों के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में पोलियो, आंत्र, शोथ, पीलिया, डायरिया आदि रोगों से पीड़ित होने वाले व्यक्तियों की संख्या काफी अधिक है। गिनी कृमि पूरे भारत के अधिकांश ग्रामीण कुओं में पाए जाते हैं।

जलाशयों, नदी-नालों के पानी में अनेक प्रकार के वायरस भी मौजूद होते हैं। अकेले मानव मल से उत्सर्जित लगभग 100 प्रकार के वायरस पानी में मौजूद हो सकते हैं। यद्यपि जीवित आश्रय के अभाव में इनका गुणन नही हो पाता पर जो लोग अल्प मात्रिक वायरसों से संक्रमित होते हैं वे अपने मल में इनकी अत्यधिक मात्रा विसर्जित करते हैं। इससे फिर अत्यधिक संसर्गजन्य संक्रमण और रोग फैलाते हैं।

नदियां और झीलें—मनुष्य ने सबसे पहले नदियों या झीलों आदि के तट पर ही अपनी आबादियां बसाई थी। वहां उसे पर्याप्त मात्रा में पीने, भोजन पकाने, खेती करने और अन्य कार्यों के लिए पानी मिल जाता था। वह निकटवर्ती नदी या जलाशय से पीने के लिए पानी लेता, उसी पानी से भोजन पकाता, उसी में स्वयं नहाता और पशुओं को नहलाता, उसी के पानी से खेत की सिंचाई करता और उसी पानी में अपना घरेलू कूड़ा-कर्कट, तथा मल-मूत्र आदि बहा देता। नदियों के

पेय जल प्राप्त करना अब भी एक गम्भीर समस्या है। यह समस्या देहातों में ही नही बड़े शहरों में भी है।

समुचित रूप से नहीं किया है। औसतन देश में प्रतिवर्ष 105 सेन्टी-मीटर वर्षा होती है। पूरे देश को वर्ष भर में लगभग 3 खरब, खरब घनमीटर पानी वर्षा के रूप में प्राप्त होता है।

देश में 14 प्रमुख नदी व्यवस्थायें हैं। ये हैं: ब्राह्मणी, ब्रह्मपुत्र, कावेरी, गंगा, गोदावरी, सिंधु, कृष्णा, महानदी, माही, नर्मदा, पेरियर साबरमती, सुवर्णकंठा और ताप्ती। ये और इनकी सहायक नदियां देश के 83 प्रतिशत भाग की जल आवश्यकता पूरी करती हैं। इन्हीं नदी व्यवस्थाओं के कछारों में देश के 80 प्रतिशत लोग रहते हैं। इनके अतिरिक्त देश में 44 मध्यम और 55 छोटी नदियां हैं। ये आमतौर से 'बरसाती' नदियां हैं जो गर्मी में बिल्कुल सूख जाती हैं। वैसे अनेक बड़ी नदियों में भी गर्मियों में बहुत कम पानी रह जाता है। साथ ही सिंचाई तथा विद्युत उत्पादन के लिए बांध बनाने, नहर काटने और

तटों पर ही अनेक सभ्यतायें विकसित हुई, प्रगति की चरम सीमा तक पहुंची और लुप्त हो गई। उनका स्थान नई सभ्यताओं ने ले लिया और कालांतर में वे भी काल की ग्रास बन गई। ऐसा हजारों वर्ष से होता आ रहा है पर नदियों का पानी, बहता पानी, इतना दूषित नहीं हुआ था कि नई सभ्यतायें उनके तट पर विकसित न हो सकें। जल की स्वशुद्धिकरण क्षमता बहुत अधिक थी (वह अब भी है) और उसकी तुलना में जो कूड़ा-कर्कट, मल-मूत्र, शव आदि उसमें डाले जाते थे वे बहुत कम थे। इसलिए नदियों का पानी शुद्ध बना रहा।

वह प्राचीन युग में ही नहीं, मध्य युग और आधुनिक युग में भी काफी समय तक शुद्ध ही रहता आया। बीसवीं सदी के आरंभ तक गावों को ही नहीं, शहरों के निकट की भी वायु, जल और भूमि शुद्ध थी। वायु में दम घुटने की आशंका के बिना मनुष्य आसानी से सांस ले सकता था, नदियों का जल बिना हिचकिचाहट के पी सकता था और भूमि पर बिना किसी खतरे के रह सकता था परन्तु बीसवीं सदी के लगभग मध्य से हालात बदलने शुरू हो गए।

स्वास्थ्य सेवाओं में प्रगति होने के साथ मनुष्य की आयु बढ़ी। पर आबादी भी बहुत तेजी से बढ़ी। फलस्वरूप हवा, पानी, भूमि आदि में हिस्सा बंटाने वाले बढ़ गए। एक ओर तो वे इनमें हिस्सा बांटने लगे और दूसरी ओर गन्दगी बढ़ाने में भी योग देने लगे। परिणाम यह हुआ कि नदियों की गन्दगी 'पचा लेने की चरम सीमा' से ज्यादा गंदगी उनमें पहुंचने लगी। इससे नदियां गंदी रहने लगीं। ऐसा हमारे देश और विश्व के अनेक देशों में हुआ।

कहा जाता है कि अशोक के काल से लेकर अकबर के शासनकाल तक भारत की आबादी में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई थी। फिर आबादी का बढ़ना शुरू हुआ। 1947 के आरंभ में अविभाजित भारत की आबादी लगभग 40 करोड़ थी जिसमें से लगभग 6 करोड़ आबादी पाकिस्तान में चली गई और विभाजित भारत में लगभग 34 करोड़ बची। पर आज, लगभग 40 वर्ष बाद वह बढ़कर 80 करोड़ हो गई है। और ऐसा उस समय हुआ जब जनसंख्या नियंत्रण के लिए अनेक कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं।

हमारे देश में पानी की कमी नहीं है पर प्रकृति ने उसका वितरण

पेय जल प्राप्त करना अब भी एक गम्भीर समस्या है। यह समस्या देहातों मे ही नहीं बड़े शहरो में भी है।

समुचित रूप से नहीं किया है। औसतन देश में प्रतिवर्ष 105 सेन्टीमीटर वर्षा होती है। पूरे देश को वर्ष भर में लगभग 3 खरब, खरब घनमीटर पानी वर्षा के रूप में प्राप्त होता है।

देश में 14 प्रमुख नदी व्यवस्थायें हैं। ये हैं : ब्राह्मणी, ब्रह्मपुत्र, कावेरी, गंगा, गोदावरी, सिंधु, कृष्णा, महानदी, माही, नर्मदा, पेरियर साबरमती, सुवर्णकठा और ताप्ती। ये और इनकी सहायक नदियां देश के 83 प्रतिशत भाग की जल आवश्यकता पूरी करती है। इन्हीं नदी व्यवस्थाओं के कछारों में देश के 80 प्रतिशत लोग रहते हैं। इनके अतिरिक्त देश में 44 मध्यम और 55 छोटी नदियां हैं। ये आमतौर से 'बरसाती' नदियां हैं जो गर्मी में बिल्कुल सूख जाती हैं। वैसे अनेक बड़ी नदियों में भी गर्मियों में बहुत कम पानी रह जाता है। साथ ही सिंचाई तथा विद्युत उत्पादन के लिए बांध बनाने, नहर काटने और

उद्योगों में बड़ी मात्रा में पानी के इस्तेमाल किए जाने से नदियों के पानी में और कमी हो जाती है। विशेष रूप से गर्मी में उनमें इतना पानी नहीं रहता जो उनमें डाले जाने वाली शहरी गंदगी और औद्योगिक उच्छिष्टों को पूरी तरह अपने साथ बहा सके।

हमारे अधिकांश शहरों और कस्बो में पीने का पानी इन्हीं नदियों से सप्लाई किया जाता है। जब नदियों में पानी की कमी है और जो पानी है वह भी प्रदूषित है तब पेय जल की सप्लाई में दिक्कत जरूर आती है। इसीलिए फाइलों में देश के अधिकांश शहरों में संतोषप्रद जल की सप्लाई दर्शाये जाने के बावजूद वास्तव में अधिकांश शहरों में पेय जल की दिक्कत ही है।

जहां तक गांवों को शुद्ध, स्वच्छ, पेय पानी उपलब्ध कराने की समस्या है वह अब भी समस्या हो बनी हुई है। देश में अब भी ऐसे गांवों की संख्या लाखों में है जिन्हें पेय जल उपलब्ध नहीं है और न ही निकट भविष्य में उपलब्ध होने की आशा है। विचित्र प्रतीत होते हुए भी यह सत्य है कि देश में बीमारियां फैलने का सबसे बड़ा कारक है मानव मल।

घरेलू गंदगी—नगर आयोजन और सीवेज व्यवस्था में इतनी अधिक प्रगति होने के बावजूद आज भी शहरों और गांवों का अधिकांश कूड़ा-कर्कट और मल-मूत्र नदियों में ही बहाया जाता है।

इसका कारण यह है कि बढ़ती हुई आबादी के संदर्भ में हमने घरेलू गंदगी और मल-मूत्र को निपटाने की व्यवस्था (उन्हें शुद्ध और हानि-रहित बनाकर पुनः इस्तेमाल करने की व्यवस्था) में बहुत कम प्रगति की है। इससे गंदगी और मल-मूत्र की अधिकांश मात्रा, बिना किसी उपचार के, सीधे ही नदियों या तालाबों आदि में मिल जाती है। हमारे देश के एक लाख से अधिक आबादी वाले 142 शहरों में से केवल 8 शहरों में मल-मूत्र और अन्य गंदगी को ठिकाने लगाने की समुचित व्यवस्था है। 62 में सीवेज उपचार की थोड़ी बहुत व्यवस्था है पर शेष में कोई व्यवस्था है ही नहीं। इस प्रकार कुल मिलाकर बड़े शहरो की गंदगी और मल-मूत्र में केवल 37 प्रतिशत भाग का ही उपचार होता है। निश्चय ही बाकी भाग हानिकारी बैक्टीरियाओं से भिनभिनाता रहता है। अकेले दिल्ली शहर से मात्र 24 घंटे के अंदर यमुना नदी में

3,20,000 किलोलीटर मल-मूत्र और गंदा पानी मिलता है। श्रीनगर में लगभग 51,000 किलोलीटर गंदा पानी झेलम में मिल जाता है।

समझा जाता है कि आज भी हमारी नदियों का 85 प्रतिशत प्रदूषण घरों की गंदगी और मल-मूत्र के ही फलस्वरूप है। इसके अतिरिक्त कारखानों से निकलने वाले व्यर्थ पदार्थ जो नदियों में मिलते हैं अत्यंत हानिकारी और विषैले होते हैं। मात्रा में कम होने के बावजूद भी ये नदियों के पानी को बहुत हानिकारक बनाते हैं।

नदियों/जलाशयों में मिलने वाले पानी (इस्तेमाल के बाद के पानी में) सबसे अधिक भाग ताप बिजलीघरों से आता है। उसकी मात्रा 14,500 करोड़ घनमीटर प्रतिवर्ष है। उसके बाद वह पानी है जो खेतों को सींचने के बाद बहकर या सीझकर नदियों में पहुच जाता है। इसकी मात्रा 8600 करोड़ घन मीटर प्रति वर्ष अनुमानी जाती है।

कारखानों से निकलने वाले व्यर्थ पानी में कारखाने के उत्पादन के अनुसार व्यर्थ पदार्थ होते है। इनमें मुख्य रूप से गंधक का तेजाब, नमक का तेजाब, सोडियम, हाइड्रोक्साइड, नाइट्रेट, सल्फेट, क्लोरीनो-कृत, यौगिक, सायनाइड आदि मौजूद हो सकते हैं। अनेक कारखानों से निकलने वाला पानी बहुत गर्म होता है। साथ ही वह इतना विषैला होता है कि उसके नदी-नाले में मिलते ही मछलियां और अन्य जन्तु मर जाते हैं।

समझा जाता हैं कि देश में बड़े और मझोले उद्योगों की संख्या 8400 है। बड़े उद्योग वे समझे जाते हैं जिनमें 2 करोड़ या उससे अधिक रुपयों की पूंजी लगी हो। 20 लाख से 2 करोड़ रुपये तक की पूंजी वाले मझोले, 5 लाख से 20 लाख तक की पूंजी वाले लघु और उससे कम पूंजी वाले कुटीर उद्योग माने जाते हैं। सर्वेक्षणों में पाया गया है कि देश में 4110 से अधिक उद्योग अनेक प्रकार के प्रदूषक उत्सर्जित करते हैं। इनमें से आधे से कुछ कम ही उद्योगों ने अपने प्रदूषकों को ठिकाने लगाने के लिए समुचित कदम उठा लिए हैं।

पर फिर भी देश में हजारों उद्योग है जो दिन-रात ज़हर उगलते रहते हैं। इनमें छोटे और कुटीर उद्योगों का विशेष योग है। अनेक ऐसे छोटे/घरेलू उद्योग हैं जो बड़े कारखानों से भी अधिक मात्रा में

प्रदूषक उत्सर्जित करते हैं। इसका एक ज्वलंत उदाहरण है छपाई उद्योग। लोनी ऐस्टेट में छपाई उद्योग से इतनी अधिक मात्रा में व्यर्थ तरल निकलते हैं कि वे रिसकर भूमिगत जल में भी पहुंच गए हैं। गुजरात के राजकोट नगर के आसपास के कुओं का पानी भी वहां के साड़ी उद्योग के कारण लाल हो गया है। यह लाल पानी नये खोदे जा रहे कुओं से भी निकलता है।

इसी प्रकार छोटी डिस्टलरियों ने भी अपने इलाकों में भयंकर प्रदूषण समस्यायें उत्पन्न कर दी हैं। अध्ययनों से यह पता लगा कि 116 डिस्टलरियों से इतना अधिक प्रदूषण उत्पन्न होता है जितना 5 करोड़ 16 लाख मनुष्य उत्पन्न करते हैं।

प्रदूषण उत्पन्न करने वाले कारखानों में शक्कर, उर्वरक, संश्लेषित रेशे, क्लोर-अल्कली बनाने वाले और तेल शोधन करने वाले कारखानों का बहुत योग है।

वह आए उर्वरक—इस तेजी से बढ़ती हुई आबादी के लिए हमें अन्न उत्पादन में वृद्धि करनी पड़ी। इसके लिए बड़ी मात्रा में उर्वरकों, पीड़कनाशियों और कीटनाशियों का उपयोग करना पड़ा। इससे अन्न उत्पादन तो तेजी से बढ़ा पर इन रसायनों ने प्रदूषण को बढ़ाने में योग दिया। यद्यपि हमारे देश में औसतन प्रति हेक्टेयर 16 किलोग्राम उर्वरक ही इस्तेमाल किया जाता है (जबकि विश्व की औसत 54 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर है) तथापि वह हमारे जल-स्रोतों को प्रदूषित करने के लिए काफी है।

भूमि की प्रकृति, बनावट, ढाल आदि का विचार किए बिना बनाई गई सिंचाई परियोजनाओं के भयंकर परिणाम हैं भूमि के बड़े-बड़े क्षेत्रों का जलग्रस्त हो जाना तथा भूजल का स्तर ऊंचा उठ जाना। भूमि के जलग्रस्त हो जाने से भूमि की लवणता बढ़ जाती है। पंजाब, हरियाणा और पश्चिम बंगाल में ऐसा बहुत होता है। इन राज्यों में बहुत बड़े क्षेत्रों में पानी भरा रहता है। समझा जाता है कि देश के कुल जलग्रस्त क्षेत्र का 60 प्रतिशत भाग इन्हीं तीन राज्यों में है।

सिंचाई के लिए बांध बनाकर बहुत बड़ी मात्रा में पानी एकत्रित करना होता है। आमतौर से ऐसी धरती पर जहां पहले पानी नहीं भरता था और अपेक्षाकृत सूखी जलवायु वाले क्षेत्र में बहुत बड़ी मात्रा

में पानी के खड़े रहने से ऐसी अनेक परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं जो पहले नहीं थीं। सूखे इलाकों में अनेक जलजन्य रोग फैलने लगते हैं।

गंगा प्रदूषण : नदियों में गंगा का हमारे लिए अत्यधिक महत्व है। इसलिए उसके प्रदूषण के बारे में कुछ विस्तार से चर्चा कर लें।

हमारे लिए गंगा मात्र एक नदी नहो है। धार्मिक प्रवृत्ति के हिन्दुओं की दृष्टि से ही नहो जवाहर लाल नेहरू जैसे धर्म-निरपेक्ष व्यक्तियों के अनुसार भी 'गंगा भारत का जोवन है'। उसके साथ सदियों से हमारा इतिहास, हमारी सभ्यता, हमारा विकास जुड़ा हुआ है। धार्मिक दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति भले ही यह कहें कि गंगा को भगीरथ अपने पूर्वजों की मुक्ति के लिए भारत में लाए थे पर आधुनिक दृष्टि से भगीरथ एक अत्यंत कुशल और सूझ-बूझ वाले इंजीनियर थे जो ग्लेशियरों के पिघलने से वनी नदी को पहाड़ खोद कर मैदान में ले आए थे।

उस समय, गंगा या हिमालय से मैदान में आने वाली किसी भी नदी का पानी एकदम शुद्ध, निर्मल और स्वास्थ्यकर था। उसकी शुद्धता और स्वास्थ्यकारी गुणों को अक्षुण बनाए रखने के लिए हमारे पूर्वजों ने कुछ नियम बना लिए थे। सब लोग इन नियमों का पालन करें इस-लिए उन्होंने गंगा को 'पवित्र' नदी घोषित कर दिया था और उसे गंदी होने से बचाने के लिए कुछ कार्य वर्जित कर दिए थे। सन् 325-400 के वीच रचे गए 'ब्रह्माण्ड पुराण' में इन वर्जनाओं का स्पष्ट उल्लेख है :—

गंगा पुण्यजलां प्राप्य त्रयोदश विवर्जयेत्।
शौचमाचमनं सेकं निर्माल्यं मलघर्षणम्।
गात्रसंवाहनं क्रीडां प्रतिग्रहमथो रतिम्।
अन्यतीर्थरतिंचैवं अन्यतीर्थप्रशंसनम्।
वस्त्रत्यागमथाचातं सन्तारंच विशेषतः॥

अर्थात् गंगा को स्वच्छ और पवित्र बनाये रखने के लिए उसमें शौच करना, आचमन करना, गंदा पानी फेंकना, पूजा के बाद फूल फेंकना, गंदे कपड़े धोना, केशक्षालन करना, उपद्रव करना, दान लेना, अश्लील क्रियाएं करना, अवांछित प्रशंसा करना या मन्त्रों का गलत उच्चारण

करना, गंदे वस्त्र फेंकना, किसी को पीटना और नदी के आर-पार तैरना वर्जित है।

इन सबको धार्मिक रूप देने से ही गंगा हज़ारों वर्ष तक गंदी होने से बची रही। पर पिछले कुछ दशकों में इन वर्जनाओं को भुला देने और उसके किनारे बड़े-बड़े कारखाने स्थापित कर देने से गंगा अधिकांश स्थानों पर 'गंदा नाला' बन गई है। उसकी पवित्रता नष्ट होती जा रही है और कुछ लोगों की यह मान्यता कि "कितनी भी गंदगी डालने के बावजूद भी गंगा पवित्र ही रहेगी" गलत साबित होती जा रही है। इसका कारण है किसी भी अन्य नदी की भांति गंगा की स्वशुद्धिकरण की चरम सीमा पार हो चुकी है। इसीलिए सरकार को गंगा सफाई अभियान चलाना आवश्यक हो गया।

यद्यपि स्वयं गंगा केवल तीन राज्यों—उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल—में ही बहती है पर उसकी सहायक नदियां अन्य निकटवर्ती राज्यों—हिमाचल प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान और मध्यप्रदेश—से भी उसमें पानी लाती हैं।

गंगा में आमतौर से तीन प्रकार के प्रदूषक मिलते हैं: गाद, जैव और रासायनिक। गाद उस मिट्टी के रूप में मिलती है जो वह स्वयं और उसकी सहायक नदियां उसमें मिलाती हैं। समझा जाता है कि उसमें प्रतिवर्ष 145.5 करोड़ टन गाद मिलती है। यह गाद वास्तव में किनारों की भूमि की उपजाऊ मिट्टी है। इससे दोहरे नुकसान होते हैं: नदियों के किनारों की उपजाऊ मिट्टी कटती है और जिस नदी में वह जमती है उसके बहाव में रुकावट आने लगती है जिससे नदी अपना मार्ग बदल देती है। इससे उसके किनारे बसी आबादी को हानि पहुंचती है। अगर नदी पर बांध बनाया हुआ है तो वह उसमें जमा होती रहती है, इससे बांध के पास बनाये गये जल-भंडार की क्षमता घट जाती है।

गाद को रोकने का सर्वोत्तम उपाय है नदियों के जलग्रहण क्षेत्र (कैचमेंट एरिया) में वनरोपण करना। यह कार्य बहुत बड़ा है पर इसके इसके और भी फायदे हैं।

पर जिन पदार्थों से गंगा तेजी से प्रदूषित होती जा रही है वे हैं जैव और रासायनिक प्रदूषक। जैव प्रदूषक मुख्य रूप से गंगा और उसकी

सहायक नदियों के तट पर बसे शहरों, कस्बों और गांवों से प्राप्त होते हैं। उनमें घरेलू कूड़ा-करकट, मानव मल-मूत्र, पशुओं के गोबर और मूत्र, उनके मृत शरीर होते हैं। इनमें हानिकारी वायरस, बैक्टीरिया, फफूंद, कीड़े आदि भी मौजूद होते हैं। ये हानिकारी सूक्ष्मजीव गंगा के पानी में मिलकर उसे 'अपवित्र' और विषैला बना देते हैं। इनसे ही जलजन्य रोग उत्पन्न होते हैं।

घरेलू गंदगी, मल-मूत्र, गोबर, मृत शवों आदि के गंगा मे मिलने से कितनी भयंकर समस्या उत्पन्न हो गई है इसका कुछ आभास हमें उस समय होता है जब हमें पता चलता है कि गंगा के तट पर बसे 29 बड़े (एक लाख से अधिक आबादी वाले), 23 मझोले (50 हजार और एक लाख के बीच की आबादी के) और 48 छोटे (50 हजार से कम आबादी वाले) शहरों की कुल गंदगी का 82 प्रतिशत से भी अधिक भाग उसमें मिलता है। 80 प्रतिशत रोगों का कारण प्रदूषित जल ही है।

इन शहरो में से बहुत कम ऐसे हैं जिनमें सीवर व्यवस्था है। उत्तर प्रदेश के 6 बड़े शहरों में से केवल 4 में, 50 से 80 प्रतिशत जनसख्या के लिए; बिहार में 4 बड़े शहरों में से 1 में (उसमें भी लगभग 25 प्रतिशत जनता के लिए) और पश्चिम बंगाल के 19 में से 5 में (लगभग 25 से 100 प्रतिशत आबादी के लिए) सीवर व्यवस्था उपलब्ध है। जहां तक सीवर उपचार की बात है वह उत्तर प्रदेश और बिहार के किसी भी शहर में नहीं है तथा पश्चिम बंगाल के केवल 5 शहरों में आंशिक रूप से उपलब्ध है।

जहां तक गंगा में मिलने वाले रासायनिक प्रदूषकों का प्रश्न है वे मुख्यत: दो किस्मों के हैं—कारखानों के व्यर्थ तरल पदार्थ तथा खेतों और शहरों का फालतू गंदा पानी।

गंगा भारत के सबसे घने बसे इलाकों में से बहती है। इसलिए उसके किनारे बसे शहरों में अनेक बड़े उद्योग हैं। समझा जाता है कि गंगा के किनारे 132 बड़े और मध्यम आकार के उद्योग हैं—इनमें 86 उत्तर प्रदेश में, 3 बिहार में और 43 पश्चिम बंगाल में है। उत्तर प्रदेश में 86 उद्योगों में से 59 खाल कमायक कारखाने हैं जिनसे बहुत बड़ी मात्रा में हानिकारी रसायन व्यर्थ पदार्थ के रूप में निकलते हैं और

इनकी अधिकांश मात्रा गंगा में मिल जाती है।

उक्त उद्योगों में से बहुत कम में प्रदूषक उपचार संयंत्र हैं। इसलिए अधिकांश उद्योगों के व्यर्थ जहरीले पदार्थ सीधे ही गंगा में मिल जाते हैं। इनमें तेजाब, क्षार, क्लोरोनित यौगिक, सल्फेट, नाइट्रेट आदि पदार्थ मौजूद होते हैं।

गंगा में घरेलू गंदगी की सबसे अधिक मात्रा (70.2 प्रतिशत) पश्चिम बंगाल में मिलती है और औद्योगिक व्यर्थों की सबसे अधिक उत्तर प्रदेश में। आयतन के हिसाब से देखें तो गंगा में मिलने वाली कुल गंदगी का 82 प्रतिशत घरों से और 18 प्रतिशत उद्योगों से प्राप्त होता है।

यह गंदगी गंगा के जल को कितना विषैला बना रही है इसका आभास उसके तट पर बसे विभिन्न शहरों के निकट उसके (जल की) जैवरासायनिक आक्सीजन आवश्यकता (बायोकैमिकल आक्सीजन डिमांड—संक्षेप में बी. ओ. डी.) मानों से स्पष्ट हो जाएगा। ये मान निम्न सारणी में दिए गए हैं।

प्रदूषक की द्योतक के रूप में जैवरासायनिक
आक्सीजन आवश्यकता मान

शहर	वर्षा के बाद	शीत ऋतु में	गर्मी में
हरिद्वार	13.20	3.17	2.50
गढ़मुक्तेश्वर	2.50	2.00	5.00
कन्नौज	12.90	8.20	16.30
कानपुर (शहर से पहले)	12.45	13.90	13.92
भगवतदासघाट	17.70	18.60	13.15
सरसैयाघाट	14.00	9.73	15.69
कानपुर (शहर के बाद)	15.55	14.15	16.39
पालामऊ	8.20	8.45	13.00
इलाहाबाद (शहर से पहले)	6.66	6.80	7.51
शिवकुटी	5.20	7.40	7.53
नागवसुकी	5.30	7.38	7.90
इलाहाबाद (शहर के बाद)	7.10	5.40	6.95

मिर्जापुर	7.20	6.15	6.72
वाराणसी (शहर से पहले)	6.00	5.90	6.49
सिंधो घाट	4.95	6.30	6.37
दशाश्वमेध घाट	5.40	5.92	6.38
वाराणसी (शहर के बाद)	5.40	5.85	6.38
बक्सर	1.77	1.50	1.70
पटना (खुरजी)	2.70	1.64	1.71
पटना पुल (शहर के बाद)	1.55	1.85	3.58
राजमहल	0.90	1.28	1-47
फरक्का	0.47	0.54	0.72
बहरामपुर	0.73	0.70	0.45
कल्याणी	1.60	0.35	1.07
कलकत्ता (दक्षिणेश्वर)	1.93	1.23	2.85
डायमंड हारबर	1.30	1.47	15.58

जैवरासायनिक आक्सीजन आवश्यकता के बारे में कुछ विस्तार से बताना बेहतर होगा।

सीवेज में मौजूद सूक्ष्मजीवों को जीवित रहने और अपना भोजन बनाने के लिए आक्सीजन चाहिए। जैवरासायनिक आक्सीजन आवश्यकता का सम्बन्ध इसी आक्सीजन से होता है और इसका मान एक निश्चित ताप पर और निश्चित समयावधि तक ज्ञात किया जाता है। आमतौर से ताप 20° सें० पर स्थिर रखा जाता है और समयावधि पांच दिन नियत की जाती है। निश्चय ही जैवरासायनिक आक्सीजन आवश्यकता मान जितना अधिक होगा पानी उतना ही अधिक प्रदूषित होगा।

अगर उक्त संदर्भ में सारणी को देखें तो पता चलता है कि कानपुर के पास गंगा सबसे अधिक गंदी है। वहां गंगा में स्नान करने से शरीर के 'पवित्र' हो जाने के स्थान पर और अपवित्र तथा रोगग्रस्त हो जाने की संभावना है।

इसी प्रकार 9 जनवरी से 8 फरवरी 1982 तक आयोजित अर्द्धकुंभ मेले के अवसर पर गंगा-यमुना के संगम स्थल के पानी के परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि उस समय वह बहुत गंदा और अस्वस्थकर हो गया था।

अगर आविलता (टरबिडिटी) की शब्दावली में कहें तो मेले के दौरान संगम के पानी की आविलता 375 से 600 भाग प्रति दस लाख भाग हो गई थी। उसमें ठोस पदार्थों की मात्रा 1200 भाग प्रति दस लाख भाग तक पहुंच गई थी। पानी क्षारीय हो गया था (पी० एच० मान 8.23 से 8.40)। उसमें क्लोराइडों की मात्रा 23 से 31 मिग्रा० प्रति लीटर तथा जैवरासायनिक आक्सीजन आवश्यकता मान 9.0 तक हो गया था यद्यपि अर्द्ध कुम्भ मेले के दौरान इलाहाबाद शहर का सीवेज न तो गंगा में मिलाया जा रहा था और न यमुना में। उस दौरान संगम के पानी में हानिकारी कोलीफार्म की औसत मात्रा 55000 प्रति मिली लीटर और विष्ठा कोलीफार्मों की मात्रा 1150 प्रति 100 मिली लीटर पायी गई थी (शुद्ध पानी के 100 मिली लीटर में एक से अधिक कोलीफार्म जीवाणु नहीं होना चाहिए)।

दो वर्ष पहले (1986) अप्रैल में हरिद्वार में कुम्भ मेले का आयोजन किया गया था। सामान्यतः हरिद्वार और ऋषिकेश में गंगा काफी शुद्ध होती है। उसमें बैक्टीरियाओं की औसत संख्या 1100 प्रति लीटर होती है। मेले से पहले गंगा को विशेष रूप से साफ भी कर दिया गया था। समझा जाता है कि मेले के दौरान लगभग 40 लाख लोगों ने गंगा में स्नान किया था। उनके स्नान करने के बाद वहां बैक्टीरियाओं की संख्या 38,000 प्रति लीटर तक पहुंच गई थी।

पानी की कमी : गंगा के प्रदूषित होने का एक और कारण है। वह है पानी की कमी। गंगा के पहाड़ों से मैदान में उतरते ही उस पर हरिद्वार में बांध बना दिया गया है। उस बांध से जो पानी रुकता है उसे ऊपरी गंगा नहर में भेज दिया जाता है। इस नहर में इतना पानी भेज दिया जाता है कि विशेष रूप से गर्मी में, गंगा लगभग सूख जाती है। उसके बाद अलीगढ़ के पास तक आते-आते सहायक नदियों से गंगा को जो पानी मिलता है उसे निचली गंगा नहर में भेज दिया जाता है। इसलिए कन्नौज और कानपुर में उसमें फिर बहुत कम पानी रह जाता है। वह इतना कम होता है कि इन शहरों से मिलने वाली गंदगी को बहा नहीं पाता। इसलिए भी इन शहरों के पास गंगा सबसे ज्यादा गंदी है।

शुद्धिकरण : गंगा या किसी भी नदी के शुद्धिकरण के लिए किए

जा रहे प्रयासों की चर्चा करने से पहले यह बताना प्रासंगिक होगा कि 'शुद्ध पेय स्वास्थ्यवर्धक' जल की परिभाषा क्या है और जल अपने आप को कैसे शुद्ध कर लेता है। यह बताना इस संदर्भ में भी जरूरी है कि अधिकांश लोगों को शंका है कि नदियों के प्रदूषण की समस्या को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रकृति में कहीं भी एकदम शुद्ध जल उपलब्ध नहीं है। अपनी विलेयन क्षमता के फलस्वरूप उन वस्तुओं को जिनके सम्पर्क में वह आता है अपने आप में घोल लेता है। यदि किसी जलाशय में चिड़िया की बीट भी गिर जाती है तो वह अशुद्ध हो जाता है। इसीलिए पेय जल सप्लाई करने से पहले जलाशयों और नदियों के पानी को उपचारित अवश्य किया जाता है। निश्चय ही उपचार का स्तर जल में उपस्थित अशुद्धियों की किस्म और मात्रा पर निर्भर होता है।

निम्न सारणी में हमारे देश के नगर निगमों द्वारा पेय जल में अपद्रव्यों की *अधिकतम अनुमेय (परमिसेबल) मात्राएं दी गई है :*

आविलता (टरबिडीटी)	5 से 10 मिलीग्राम प्रति लीटर (सिलिया पैमाने के अनुसार)
रंग	10-20 (कोबाल्ट पैमाने की वर्ण संख्या)
पी-एच	6.6 से 8.0
सम्पूर्ण ठोस पदार्थ	500 से 1000 मिलीग्राम प्रति लीटर
कठोरता (कैल्सियम कार्बोनेट के रूप में)	7.5 से 15
क्लोराइड	250 (भाग प्रति दस लाख भाग)
नाइट्रेट	45 (भाग प्रति दस लाख भाग)
आर्सेनिक	0.05 (भाग प्रति दस लाख भाग)
क्रोमियम	*0.05 (भाग प्रति दस लाख भाग)*
तांबा	1.0 से 3.0 (भाग प्रति दस लाख भाग)
जस्त	15 (भाग प्रति दस लाख भाग)
मैग्नीशियम	125 (भाग प्रति दस लाख भाग)
सल्फेट	250 (भाग प्रति दस लाख भाग)
फ्लोराइड	1.5 (भाग प्रति दस लाख भाग)
सायनाइड	0.2 (भाग प्रति दस लाख भाग)

जैव रासायनिक आक्सीजन
आवश्यकता मान — शून्य
कोलीफार्म बैक्टीरिया — 100 मिलीलीटर में एक से अधिक नहीं
ऐशरिकिया कोलाई (एम.पी.एच.) 1/100 मिलीलीटर से अधिक नहीं

पानी का प्रदूषण मापने में कोलीफार्म बैक्टीरिया बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता है। विचित्र बात यह है कि स्वयं कोलीफार्म हानिरहित बैक्टीरिया है। पर वह सामान्यतः सब मानव सीवेज में मौजूद होता है। पानी में उसकी उपस्थिति आसानी से ज्ञात की जा सकती है जबकि रोग उत्पन्न करने वाले सूक्ष्मजीवों का पता लगाना अत्यंत कठिन और कई बार असंभव हो जाता है। इसलिए आमतौर से यह मान लिया जाता है कि वे सभी जल जिनके 100 मिली लीटर में एक भी कोली-

कारखाने हमारी बढ़ती हुई आबादी की आवश्यकतायें पूरी करने और उसे रोजगार देने के लिए जरूरी हैं पर उनसे बड़ी मात्रा में हानिकारक व्यर्थ तरल पदार्थ भी निकलते हैं।

फार्म मौजूद नहीं होता रोगजन्य सूक्ष्मजीवों से रहित होता है।

कुछ लोगों का मत है कि जानवरों और मनुष्यों के मल-मूत्र, उनके शव, सड़ते हुए पौधे और अन्य अनेक प्रकार की गंदगी तो हमारे नदी-नालों में हजारों-लाखों वर्षों से मिलती रही है। इसके बावजूद भी यदि नदियां प्रदूषित नही हुईं तब पिछले कुछ वर्षो में ही ऐसा क्या हुआ है कि हमारी नदियों का प्रदूषण बढ़ता ही जा रहा है।

पहले यह देखें कि आखिर हजारों वर्षों से निरन्तर जानवरों और मनुष्यों के मल-मूत्र, मृत शरीर, घरेलू कचरा आदि ढोते रहने के बाद भी नदियो का पानी दूषित क्यों नही हुआ। इसका कारण प्रकृति की एक अनूठी व्यवस्था है जिसके फलस्वरूप नदियां स्वयं ही अपनी गंदगी से जल्दी ही, छुटकारा पा लेती हैं। नदी-नालों आदि में रहने वाले बैक्टीरिया ही इस गंदगी को निपटाते हैं। इनमें से कुछ अवायुजीवी भी होते हैं जो आक्सीजन की उपस्थिति में जीवित नहीं रह पाते। वायुजीवी बैक्टीरिया नदियों की सतह पर रहते हैं और अवायुजीवी तली में। अवायुजीवी उस ठोस गंदगी को ठिकाने लगाते है जो भारी होने के कारण तली में बैठ जाती है जबकि वायुजीवी पानी में घुलनशील अथवा निलंबित गंदगी को 'खाते' हैं। बैक्टीरियाओं के शरीर में जाकर गंदगी जटिल कार्बनिक यौगिकों से सरल स्थायी अकार्बनिक पदार्थ यौगिकों में बदल जाते हैं और उनके शरीर से निकलने के बाद विघटित नहीं होते। यदि सीवेज में रोग उत्पन्न करने वाले सूक्ष्मजीव मौजूद होते हैं तो इन्हीं क्रियाओं के दौरान नदी-नालों में रहने वाले जलीय प्रोटोजोआ उन्हें विघटित कर देते हैं।

वायुजीवी बैक्टीरिया गंदगी को खाते-खाते अपनी वंशवृद्धि भी करते जाते हैं और इसके परिणामस्वरूप पानी में घुली आक्सीजन को भी समाप्त करते जाते हैं। इससे आक्सीजन की मात्रा कम होती जाती है। पर एक स्वच्छ नदी बहते हुए पत्थरों से उलझते समय तथा ऊपर से नीचे गिरने के दौरान, वायुमंडल से पुनः आक्सीजन ग्रहण करती जाती है। साथ में नदी में निवास करने वाले सूक्ष्म पौधों, शैवालों, से प्रकाशसंश्लेषण द्वारा मुक्त होने वाली आक्सीजन से भी वायुजीवी बैक्टीरिया अपनी जरूरत पूरी करते रहते हैं और बदले में शैवालों को पोषक पदार्थों के रूप में वे अकार्बनिक यौगिक प्रदान करते रहते हैं जो वे गंदगी को विघटित करके बनाते हैं। शैवाल इन यौगिकों को पुनः

जटिल कार्बनिक यौगिकों में परिवर्तित कर देते हैं। ये वे पदार्थ हैं जो हमारे भोजन के आवश्यक घटक हैं। इस प्रकार भोज्य पदार्थों से गंदगी और गंदगी से पुनः भोज्य पदार्थ बनने का एक अटूट चक्र निरन्तर चलता रहता है।

बाढ़ से पेड़ पौधे उखड़ जाते हैं।

जब नदियों के पानी में गंदगी की मात्रा कम होती है तो वायुजीवी बैक्टीरियाओं को पर्याप्त मात्रा में भोजन नहीं मिल पाता इस लिए उनकी संख्या भी कम हो जाती है और परिणामस्वरूप उनकी आक्सीजन आवश्यकता भी कम हो जाती है। इस प्रकार एक स्वच्छ नदी में बैक्टीरिया अपेक्षाकृत कम संख्या में होते हैं और उसके पानी में घुली आक्सीजन की मात्रा पर्याप्त होती है। इस प्रकार नदी नयी गंदगी का भार उठाने के लिए तैयार हो जाती है।

उक्त स्वचालित प्राकृतिक क्रियाओं के फलस्वरूप नदियां गंदगी की बड़ी मात्राओं को, बिना किसी गंभीर हानि के, 'पचा जाती हैं'। पर गंदगी के पचाने की भी एक सीमा होती है। उस सीमा का अतिक्रमण होने पर उक्त क्रियाओं से भी गंदगी का पूरी तरह निपटारा नहीं हो पाता। होता यह है कि गंदगी की मात्रा (वायुजीवी बैक्टीरिया का भोजन) अत्यधिक बढ़ जाने से वायुजीवी बैक्टीरियाओं की संख्या में

भी बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है। इससे उनकी आक्सीजन की मांग भी बढ़ जाती है। पानी में घुली आक्सीजन इतनी तेजी से खर्च होने लगती है कि उसकी पूर्ति वायुमंडल अथवा शैवालो से नहीं हो पाती। फलस्वरूप पानी में उसकी मात्रा घटने लगती है। इससे वायुजीवी बैक्टीरिया और बैक्टीरिया-भक्षी प्रोटोजोओं की संख्या कम हो जाती है। उस स्थिति में नदी की तली में निवास करने वाले अवायुजीवी बैक्टीरियाओं के झुंड सतह पर हमला कर देते हैं। पानी मे घुली आक्सीजन समाप्त हो चुकी होती है पर खाद्य बड़ी मात्रा में मौजूद होता है। अतः ये अवायुजीवी बैक्टीरिया तेजी से पनपते हैं और शीघ्र ही पानी की ऊपरी परत पर भी अपना आधिपत्य जमा लेते हैं। गंदगी के भक्षण के दौरान वे पानी से हाइड्रोजन मुक्त करते हैं और मल से गंधक। उन्हें संयुक्त करके वे दुर्गंधमय हाइड्रोजन सल्फाइड में परिवर्तित कर देते हैं। इस हाइड्रोजन सल्फाइड के कारण ही गंदी नालियों से बदबू आती है।

जब पानी में निलंबित गंदगी की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है तब सूर्य का प्रकाश नदी की तली तक नहीं पहुंच पाता। उस स्थिति में जलीय शैवाल भी नष्ट हो जाते हैं। पर्याप्त मात्रा में खाद्य और आक्सीजन न मिलने से ऐसे पानी में मछलियां पनप नहीं पातीं और धीरे-धीरे नदी 'मर जाती' है।

सीवेज को उपचारित करने के लिए स्वास्थ्य-इंजीनियर प्राकृतिक शुद्धिकरण विधि को ही अपनाते है—बस उस प्रक्रम को त्वरित कर देते हैं। सबसे पहले सीवेज के ठोस पदार्थ, स्लज को नीचे बैठ जाने दिया जाता है। फिर उसे वायुरुद्ध टैंकों में 40 दिन तक रखा जाता है। इस दौरान अवायुजीवी बैक्टीरिया ठोस पदार्थ का उसी भांति भक्षण कर लेते हैं जैसे नदी की तली में करते है। इस भक्षण के दौरान जो गैस उत्पन्न होती है उसे कभी-कभी पम्प आदि चलाने हेतु या आसपास के क्षेत्र में ईंधन गैस के रूप में प्रयुक्त कर लिया जाता है। अंत में जो स्लज बचता है उसे खाद के रूप में बेच दिया जाता है। और शुद्ध किए गए पानी को नदी आदि में मिला दिया जाता है। दिल्ली में 'ओखला के खाद' के रूप मे बिकने वाला खाद यही स्लज है।

उक्त प्रक्रम में ठोस को तली में बिठाने से कुल सीवेज का 35

प्रतिशत शुद्ध हो जाता है। सीवेज के घुलनशील और निलंबित भाग को खुले टैंकों में रखने पर, जहां वह आक्सीजन के सम्पर्क में आता है सीवेज का और शुद्धिकरण हो जाता है। इन टैंकों में सीवेज पर बैक्टीरिया और प्रोटोजोआ आक्रमण कर उसका 'शोधन' करते हैं।

सीवेज के 99 प्रतिशत शुद्धिकरण के लिए इस उपचारित सीवेज को रेत में छाना जाता है। पर सीवेज का इस हद तक शोधन केवल कुछ शहरों में ही किया जाता है।

हमारे देश में नदियों की बढ़ती गंदगी को न रोक पाने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि बरसों तक सरकार और काफी हद तक जनता का भी ध्यान शहरों और गांवों की जल आपूर्ति पर ही केंद्रित रहा। उन्होंने सीवेज उपचार की ओर ध्यान ही नहीं दिया।

सागर भी प्रदूषित होते जा रहे हैं

अपनी 10 वर्ष की समुद्री यात्रा से लौटने के बाद, 1970 में जैक कुस्तो ने एक ही वाक्य में अपना निष्कर्ष व्यक्त किया था "सब समुद्र मृतप्राय: होते जा रहे हैं।" जैक कुस्तो को समुद्रों के बारे में जितना ज्ञान है उतना संसार के किसी अन्य व्यक्ति को नहीं। उनके अनुसार पिछले 20 वर्ष में समुद्री जीव-जन्तुओं की संख्या में 40 प्रतिशत तक की कमी हो गई है और पिछले 50 वर्ष में वनस्पतियों और जन्तुओं की हजारों जातियां लुप्त हो चुकी हैं।

आजकल अनेक सागर इतने गंदे हो गए है कि अब वे मात्र 'गंदी झील' बन गए है। बाल्टिक सागर, भूमध्यसागर और न्यूयार्क शहर के निकटवर्ती सागर ऐसे प्रदूषित सागरों के उदाहरण हैं।

सागर को गंदा करने वाला सबसे खतरनाक पदार्थ है पेट्रोलियम। जब पेट्रोलियम सागर पर बिखर जाता है तो तबाही मचा देता है और ऐसा होता ही रहता है। पेट्रोलियम पानी से हल्का होता है और उस पर बहुत तेजी से फैल जाता है। एक टन पेट्रोलियम पानी की 1200 हेक्टेयर सतह पर फैल सकता है।

सतह पर बिखरा तेल पादप प्लांकटनों (फाइ[illegible] और जंतु प्लांकटनों (जूप्लांकटन) का खात्मा कर देता [illegible]

तरह बच भी जाते हैं तो भी अपंग जरूर हो जाते हैं। यही हाल शैवालों तथा अन्य सूक्ष्मजीवों का होता है। इन सबकी बड़ी संख्या में मृत्यु से सागर की खाद्य शृंखला गड़बड़ा जाती है और वायुमंडल की आक्सीजन सप्लाई में रुकावट पैदा हो जाती है। वास्तव में समुद्री पौधे ही हमारे वायुमंडल की 70 प्रतिशत आक्सीजन की पूर्ति करते हैं।

सागर पर बिखरे तेल में अनेक परिवर्तन होते हैं। तेल की थोड़ी मात्रा पानी में घुल जाती है। कुछ मात्रा सूक्ष्मजीव विघटित कर देते हैं; वे इसके हाइड्रोकार्बनों का ऊर्जा के रूप में इस्तेमाल करते हैं। खनिज तेल अनेक हाइड्रोकार्बनों का मिश्रण होता है। उसमें हल्के और भारी अंश होते हैं। धीरे-धीरे उसके हल्के अंश वाष्प बनकर उड़ जाते हैं। इससे वह गाढ़ा और भारी होता जाता है। धूप और आक्सीजन उसे पालीमरित कर देते हैं जिससे वह बहुत गाढ़ा और भारी होकर डामर की छोटी-छोटी, काली गोलियों में बदल जाता है और उसके वे अंश जिनमें गंधक, धातुएं, मोम आदि होते हैं, तली में बैठ जाते हैं।

सतह पर बिखरे तेल की गाढ़ी होती परत सागर के पक्षियों के परों को उस समय जकड़ लेती है जब वे अपना शिकार, मछली आदि पकड़ने के लिए सागर में गोता लगाते हैं। समझा जाता है कि हर वर्ष लगभग दो लाख पक्षी इस प्रकार मर जाते हैं।

तेल से सतह के सूक्ष्मजीव-जन्तुओं के अलावा मछलियों जैसे जीव भी नष्ट हो जाते हैं। एक्वेरियम में किए गए प्रयोगों में पाया गया है कि तेल मिले पानी में मछलियों के भ्रूण अपंग हो जाते हैं या मर जाते हैं।

सतह से नीचे जाते तेल के हाइड्रोकार्बन आमतौर से समुद्री जंतुओं के शरीर में पहुंच जाते हैं। ऐसा होने पर वे काफी समय तक विघटित नहीं होते। जब कोई अन्य जन्तु उन्हें खा लेता है तो वे उस शिकारी के पेट में पहुंच जाते हैं। इस प्रकार बिना विघटित हुए वे एक के बाद एक अनेक समुद्रीजन्तुओं के शरीरों में पहुंचते जाते हैं। इस चक्र में अनेक बार वे उन जन्तुओं के शरीर में भी पहुंच जाते हैं जिन्हें हम खाते हैं। हाइड्रोकार्बनों से युक्त इन जन्तुओं का 'फ्लेवर' खराब होता है और खाने वालों को उनमें वांछनीय स्वाद नहीं मिलता। पर इससे भी खराब बात यह है कि हाइड्रोकार्बन कैंसर जैसे घातक रोग भी उत्पन्न

कर सकते हैं।

अभी हमें इसका पूरा ज्ञान नहीं है कि धीरे-धीरे तली में बैठ जाने वाले तेल-अंशों का, वहां के समुद्री जीवों पर क्या प्रभाव पड़ता है। तली में तेल काफी समय तक रहता है। उस पर किसी अन्य पदार्थ की परत जमने में भी काफी समय लगता है। वैसे तली में बैठे तेल पर सूक्ष्मजीवों के आक्रमण होते रहते हैं, हो सकता है कि वे इसे किसी उपयोगी या और भी घातक पदार्थ में बदल देते हों। तेल के बिखरने का शायद सबसे घातक परिणाम है पानी की उर्वरा शक्ति का ह्रास और अनेक सूक्ष्म जीवों के नये विभेदों का विकास, जो हानिकारक भी हो सकते हैं।

तटवर्ती सागर ही खनिज तेल से सबसे अधिक प्रदूषित होते हैं। ये ही वे क्षेत्र हैं जहां 'टैंकरों' में तेल भरा और निकाला जाता है; यहीं टैंकर लंगर डालते हैं। यहीं उन्हें धोया जाता है और 1973 के अन्तर्राष्ट्रीय 'कन्वेन्शन' के बावजूद धोवन को सागर में फेंका जाता है ताकि टैंकर अपने यात्रा-समय को कम करके मालिक को अधिक लाभ पहुंचा सकें। इसके अलावा सागर से निकाले जाने वाले खनिज तेल का अधिकांश भाग अब भी तट के निकट के क्षेत्रों में निकाला जाता है और इसी से इसी क्षेत्र में बिखरता है। तट पर बने बड़े भंडारण टैंकों से रिसने वाला तेल और पाइप लाइनों से चूने वाला तेल भी यहीं बिखरता है। इन्हीं कारणों से तटीय सागर सबसे अधिक प्रदूषित क्षेत्र है। विडम्बना यह कि ये ही वे क्षेत्र हैं जहां मछलियों की अनेक महत्वपूर्ण जातियां अंडे देती हैं और यहीं उनसे बच्चे निकलते हैं।

अनेक बार तेल ढोने वाले टैंकर दुर्घटनाग्रस्त भी हो जाते हैं। दुर्घटना में टैंकर में चाहे आग न लगे, चाहे वह न डूबे, पर वह छलक जरूर जाता है और छलकने से तेल सागर पर फैल जाता है।

अनुमान है कि ऐसा करने में 20 से 50 लाख टन तक तेल सागर पर बिखर जाता है। इसमें टैंकरों के धोने से सागर पर बिखरने वाला तेल शामिल नहीं है। इसकी मात्रा लगभग 10 लाख टन प्रति वर्ष आंकी गई है। कहा जाता है कि अकेले भूमध्यसागर में ही प्रति वर्ष

3 लाख टन तेल बिखरता है।

इण्डोनेशिया पेट्रोलियम और गैस संस्थान के अनुसार खनिज तेल के बिखरने से जावा सागर संसार का सबसे प्रदूषित सागर बन गया है। जकार्ता खाड़ी में टैंकरों की धोवन से दक्षिण सुमात्रा और एम्बोन क्षेत्र में समुद्री वनस्पति और जन्तु लुप्त हो गए हैं। न्यूफाउंडलैंड के दक्षिण तट के निकटवर्ती सागर में, फ्लोरिडा के निकटवर्ती सागर में, और सारगोसा सागर के पूर्वी भाग में तेल उत्पादों की मात्रा, सुरक्षित मात्रा से 100 गुनी अधिक हो गई है।

कुछ ऐसे कारण भी हैं जिन पर हमारा नियंत्रण नहीं है। पर वे हमारे तटीय सागरों को तेजी से प्रदूषित कर रहे हैं। खाड़ी और मध्य पूर्व के देशों से सुदूर-पूर्व और दक्षिण.पूर्व एशिया के देशों को भेजा जाने वाला खनिज तेल हमारे पश्चिमी तट के काफी निकट से गुजरता है। तेल ढोने का यह मार्ग अत्यन्त प्रचलित है और जब तेल इस मार्ग से जायेगा तो बिखरेगा भी और वहीं के सागरों को प्रदूषित करेगा। समझा जाता है कि एक वर्ष में अरब सागर पर से लगभग 75,60,00,000 टन तेल प्रति वर्ष ढोया जाता है। यह बहुत बड़ी मात्रा है और संसार में कुल जितना तेल ढोया जाता है उसकी 54 प्रतिशत है। इसका परिणाम है अरब सागर का अधिकाधिक प्रदूषित होते जाना। समझा जाता है कि आज अरब सागर के ऊपर के 10 मीटर तक पानी में पेट्रोलियम हाइड्रोकार्बन की सांद्रता 0.12 से 2.44 मिलीग्राम प्रति लीटर तक हो गई है। अगर औसत के रूप में इसे कहें तो इनकी सांद्रता 1.14 मिलीग्राम प्रति लीटर है। यह सांद्रता सागर के उत्तरी क्षेत्र में (15° उत्तर अक्षांश से ऊपर) अधिक है। लगभग 1.5 मिलीग्राम प्रति लीटर और दक्षिण क्षेत्र में 0 8 मिलीग्राम प्रति लीटर।

अरब सागर पर बिखरने वाले इस तेल को दक्षिण हिस्से तक पहुंचाने में हमारे पश्चिमी तट की मानसून पवनें भी बहुत योग देती हैं। ये पवनें अरब सागर से हमारे तट की ओर आती हैं इसलिए गर्मी में अरब सागर की सतही जल-धारा की दिशा भी यही हो जाती है और परिणामस्वरूप तट के दूर के स्थानों पर बिखरा हुआ तेल भी हमारे तट की ओर पहुंच जाता है। इसका प्रभाव हमारे तट के जीव-जन्तुओं पर बहुत घातक सिद्ध हो रहा है। साथ ही हमारे रमणीक

स्थल उन डामर की गोलियों के कारण जो खनिज तेल के गाढ़े होने मे बनती हैं, अपनी सुन्दरता खोते जा रहे हैं। समझा जाता है कि एक वर्ष में लगभग एक हजार टन ऐसी गोलियां हमारे पश्चिमी तट पर आ जाती हैं।

पश्चिमी तट को इन गोलियों से मुक्त रखने में हमारा राष्ट्रीय सागरविज्ञान संस्थान बहुत योग दे रहा है। पर हम उनसे मुक्त हो पायेंगे या नहीं कहना कठिन है।

सागर से तेल निकालने की कोशिशों ने भी जाने-अनजाने सागर को बहुत प्रदूषित किया है। 1969 के आरम्भ में लास एन्जिलिस के निकट तेल का कुआं खोदते समय, गलत ड्रिलिंग से 2000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में तेल की 2-3 सेंटीमीटर मोटी तह जम गई थी। यह एक मामूली घटना है और ऐसी घटनायें आमतौर से होती ही रहती हैं।

यदि तेल की समुचित रूप से सफ़ाई न की जाए तो वह महीनों तक अपना कुप्रभाव सागर पर डालता रहता है। उसकी सफाई के तरीके जानने से पहले उन अन्य पदार्थों की चर्चा कर लें जो सागर को गन्दा करने में अपना योग दे रहे हैं।

पिछले कुछ दशकों में औद्योगीकरण में जितनी तेजी आई है उतनी पहले कभी भी मानव इतिहास में नहीं आई थी। बढ़ते हुए औद्योगीकरण का प्रदूषण रूपी बोनस सागर को भी मिला है। आज हम बहुत बड़ी मात्रा में औद्योगिक व्यर्थ फेंकते हैं, और उन्हें फेंकते समय हमें यह ध्यान नहीं रहता कि ये दूषित पदार्थ यदि शीघ्र विघटित नहीं हो जाते तो अन्ततः सागर में ही पहुंचते हैं। इन औद्योगिक व्यर्थों में ऐसे काफी पदार्थ होते हैं जिन्हें न तो समुद्री जीव और न ही रासायनिक क्रियायें उन्हें अहानिकारक पदार्थों में जल्दी विघटित कर सकती हैं। ऐसे पदार्थ काफी स्थायी होते हैं और लम्बे समय तक बिना विघटित हुए सागर में पड़े रहते हैं। इसलिए आज हर सागर प्रदूषित है, कोई कम कोई अधिक।

पारे और सीसे की विशाल मात्रायें—सागर प्रतिवर्ष 50,000 टन से भी अधिक मात्रा में पारे के घातक यौगिक ग्रहण करते हैं। यह हलाहल उन्हें प्राप्त होता है उन पदार्थों से जो हम कृषि और उद्योगों

में इस्तेमाल करते हैं। इसमें से अनेक पारे के कार्बनिक यौगिक भी होते हैं। पारे के कार्बनिक यौगिक कवकनाशियों और उत्प्रेरकों के रूप में इस्तेमाल किए जाते हैं। ये पानी के साथ घुलकर, वर्षा के साथ बह कर, नाले, नदियों और बड़ी नदियों में से होते हुए अन्ततः सागर में पहुंच जाते हैं।

ये विषैले यौगिक पानी में 50 से 100 वर्षों तक बिना विघटित हुए पड़े रह सकते हैं। कुछ यौगिक मेथिल मर्करी में बदल जाते हैं जो अत्यन्त घातक विष हैं। पारे के यौगिकों को वे मछलियां तथा अन्य जन्तु जिन्हें हम खाते हैं, सीधे खा लेते हैं अथवा वे सागर की जटिल खाद्य शृंखला द्वारा उन तक पहुंचते हैं। पारा-दूषित जन्तुओं को खाने से मनुष्य अन्धा हो सकता है, उसके मस्तिष्क को हानि पहुंच सकती है, उसे तंत्रिका तंत्र की बीमारियां हो सकती हैं और यहां तक कि उसकी मृत्यु भी हो सकती है।

आज स्थिति यह है कि अनेक सागरों में, विशेष रूप से औद्योगिक रूप से प्रगतिशील देशों के तटवर्ती सागरों में, पारा यौगिकों की मात्रा 'अधिकतम सुरक्षित' मात्रा से कहीं अधिक हो गई है। जापान की मिनीमाता खाड़ी और अमेरिका की सेनफ्रांसिसको खाड़ी पारा प्रदूषित सागरीय क्षेत्रों के ज्वलंत उदाहरण हैं।

औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप सागर को प्रदूषित करने वाला एक अन्य महत्वपूर्ण पदार्थ है लैड (सीसा)। इसके यौगिक भी बड़ी मात्रा में सागर में पहुंचते हैं। समझा जाता है कि हर वर्ष विभिन्न प्रक्रियाओं से हम सागर में लगभग 1,50,000 टन सीसे के यौगिकों की बढ़ोतरी कर रहे हैं। इस उत्तरी गोलार्द्ध के सागरों के सतह के पानी में ही पिछले 45 वर्षों में, जब से सीसे के 'एन्टीनाक' यौगिकों का इस्तेमाल आरम्भ हुआ है, सीसे की मात्रा 0.01-0.02 म्यू० ग्राम से बढ़कर 0.07 म्यू० ग्राम प्रति किलोग्राम हो गई है। सीसे की इस बढ़ती हुई मात्रा का सागर के जीव-जन्तुओं पर क्या प्रभाव पड़े हैं उनका अभी हमें पूरी तरह ज्ञान नहीं है पर वे निश्चित रूप से अच्छे नहीं हैं।

कीटनाशक भी : बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए प्रत्येक देश अधिकाधिक मात्रा में खाद्यान्न उत्पन्न करने के हर संभव उपाय कर रहा है। इसके लिए वे बहुत बड़ी मात्राओं में विभिन्न किस्म के रसायनों का

उपयोग करके, फसलों को नुकसान पहुंचाने वाले कीड़ों, जन्तुओं, जीवाणुओं आदि को नष्ट करते हैं। इन रसायनों ने खाद्यानों के उत्पादन को बढ़ाने में महत्वपूर्ण योग तो दिया है पर साथ ही दिया है प्रदूषण। कीटनाशक रसायनों से उत्पन्न यह प्रदूषण थल, वायु और नदियों तक ही सीमित नहीं है। वह सागर को भी प्रभावित कर रहा है।

कीटनाशकों में कदाचित सबसे अधिक इस्तेमाल डी. डी. टी. का होता है। इसके विघटन से बनता है डी. डी. ई. और निश्चय ही सबसे अधिक प्रदूषण इसी से होता है। सागर के जन्तुओं के शरीर में इसकी काफी मात्रा पाई गई है। वैसे अन्य कीटनाशक जैसे डिलड्रिन, एल्ड्रिन, हेप्टाक्लोर एपोक्साइड, बेंजीन हैक्साक्लोराइड भी प्रदूषण फैलाने में अपना-अपना योग देते हैं। रसायनज्ञों के अनुसार ये स्थायी पदार्थ हैं और इनमें क्लोरीन की काफी मात्रा होती है। इसलिए समुद्री जीव-जन्तुओं को भारी हानि पहुंचाने में भी ये पीछे नहीं रहते। अनेक क्षेत्रों, विशेष रूप से तट के निकट के क्षेत्रों में, मछलियों तथा अन्य जन्तुओं की संख्या में भारी कमी आ जाने का कारण अनेक बार ये कीटनाशक ही होते हैं।

रेडियोधर्मी अवशेष : परमाणु बमों के परीक्षण अनेक बार सागर में किए जाते हैं। इनसे पानी में रेडियोधर्मी पदार्थों की मात्रा अत्यधिक बढ़ जाती है। उसमें स्ट्रांशियम-90 और सीजियम-137 जैसे नये रेडियोधर्मी समस्थानिक आ जाते हैं। कार्बन-14 और ट्रीटियम जैसे पदार्थों की मात्रा बढ़ जाती है। ये पदार्थ समुद्री जीवों के शरीर में पहुंचकर संचित होते रहते हैं। इनकी सांद्रता पानी में मौजूद रेडियोधर्मी पदार्थों की सांद्रता से तुलना में हजारों-लाखों गुना अधिक हो जाती है। निश्चय ही यह जीवों के लिए अत्यन्त घातक होती है।

रेडियोधर्मिता से वह जीव विशेष ही प्रभावित नहीं होता जिसके शरीर में सांद्रता बढ़ी है; वरन् उसकी आने वाली पीढ़ियां भी प्रभावित हो सकती हैं और जब रेडियोधर्मी पदार्थों से प्रदूषित जीवों को मनुष्य खाता है तब वे पदार्थ उसके शरीर में पहुंच जाते हैं और उसे अनेक व्याधियों का शिकार बना देते हैं।

सागर में रेडियोधर्मिता बढ़ने का एक कारण यह भी है कि अनेक

बार रेडियोधर्मी व्यर्थ पदार्थ बिना पूर्ण उपचार के ही सागर में डाल दिए जाते हैं। इसलिए परमाणु रिएक्टरों और परमाणु बिजलीघरों के निकटवर्ती सागरों में रेडियोधर्मिता अपेक्षाकृत काफी अधिक हो जाती है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि थल, जल, वायु आदि को दूषित करने वाले पदार्थ जल्दी या देर में अन्ततः सागर में पहुंच जाते हैं। इस क्रिया के अनुसार भी आज सागर जल में ऐसे पदार्थ भी पाए जाने लगे हैं जो कारखानों द्वारा सागरों से हजारों किलोमीटर दूर फेंके जाते हैं।

उपचार : रोग से अधिक भयंकर : वर्षों से वैज्ञानिक सागर पर बिखरे तेल को साफ करने के प्रयोग कर रहे हैं। उन्होंने उसे समेटने, साफ करने या रासायनिक रूप से ऐसे यौगिकों में परिवर्तित करने की विधियां सुझायी हैं जो समुद्री जीव-जन्तुओं और अन्ततः मनुष्यों के लिए हानिकारी न हों। इसमें शायद सबसे सरल है किसी चूषक युक्ति से तेल की परत को चूस लेना। बन्दरगाहों और थल के अन्दर घुसी खाड़ियों को तेल प्रदूषण से मुक्ति दिलाने के लिए यह विधि काफी इस्तेमाल की जाती है। पर खुले समुद्रों के बड़े क्षेत्र में फैले तेल को दूर करने के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता।

बिखरे हुए तेल को उस पर उपयुक्त अवशोषक पदार्थ फैलाकर भी दूर किया जा सकता है। इस काम के लिए पालीयूरियेन फोमकाफी उपयुक्त पाया गया है। तेल की सतह पर यह फोम फैला दिया जाता है। यह तेल को अवशोषित कर लेता है। फिर उस फोम को इकट्ठा करके फेंक दिया जाता है। पालीयूरियेन फोम के स्थान पर कुछ लोगों ने लकड़ी का बुरादा इस्तेमाल करने के भी सुझाव दिए हैं। तेल की परत पर बारीक, अधिक घनत्व वाला चूर्ण फैलाकर उसे तली पर बैठाया जा सकता है। स्टीयरेट से उपचारित चाक चूर्ण एक ऐसा ही पदार्थ है।

पर ये बहुत छोटे क्षेत्र में बिखरे तेल को ही ठिकाने लगा सकते हैं। टैंकरों से बड़ी मात्रा से तेल छलक जाने पर अथवा टैंकर के दुर्घटना-ग्रस्त हो जाने से तेल बड़े क्षेत्र पर बिखर जाता है। उस समय ऊपर बताई गई विधियां कारगर नहीं होतीं। तब जो विधि इस्तेमाल की जाती है उसका उद्देश्य होता है तेल को बहुत छोटी-छोटी बूंदों में इस

प्रकार छितरा देना कि वे बुन्दकियां आपस में न मिल पायें। उसके लिए किसी छितराने वाले पदार्थ—डिस्परसेन्ट को उपयुक्त घोलकों में घोल कर तेल की परत पर एक पतली परत के रूप में फैला दिया जाता है और फिर सागर की परत को मथा जाता है। इससे तेल बहुत छोटी बुंदकियों में बंट जाता है। डिस्परसेंट के रूप में डिटरजेंट इस्तेमाल किए जाते हैं।

इन सब विधियों से, विशेषकर तेल को बुन्दकियों में छितराने की विधि से, सागर पर बिखरा तेल तो ठिकाने लग जाता है पर फिर डिटरजेन्ट अपने प्रभाव छोड़ जाते हैं। इनसे इतने अधिक समुद्री जीव मर जाते हैं जितने कदाचित तेल के बिखरने से नहीं। वास्तव में यह इलाज रोग से अधिक खतरनाक है।

अरब सागर तेल के बिखरने से ही दूषित नहीं हो रहा वरन् उसमें डी. डी. टी. की सांद्रता भी बढ़ती जा रही है। अरब सागर के कुछ जन्तु प्लांक्टनों को कुछ वर्ष पहले डी. डी. टी. सांद्रता के लिए परखा गया था और उनमें डी. डी. टी. की मात्रा 0.05 से 3.21 भाग प्रति 10 लाख भाग तक पाई गई थी। इस सागर में पारे की सांद्रता भी बढ़ती जा रही है और वह लगभग 26 से 130 म्य. ग्राम प्रति लीटर तक पहुंच गई है।

4. कीटनाशी रसायनों से प्रदूषण

मानव के पदार्पण के बहुत पहले से ही कीट पृथ्वी पर विराजमान थे। मानव-उद्भव के बाद ये उसकी खुशहाली में बाधा पहुंचाने लगे। वे उसके भोजन में हिस्सा बांटने लगे और साथ ही विभिन्न रोगों के जीवाणुओं को भी मानव तक पहुंचाने लगे। इसलिए इन कीटों का नाश करने में हमने कीटनाशी रसायनों का उपयोग आरम्भ किया।

बीस वर्ष की अवधि से कम समय में ही संश्लेषित हानिकारक जीवनाशी रसायन जीवित और अजीवित पदार्थों में अच्छी तरह से घुलमिल कर सर्वव्यापी बन गए हैं। ये भूमि में रम गए, नदी-नालों में पहुंच गए और यहां तक कि भूमिगत जल में भी जा पहुंचे। ये दूर पर्वतीय झीलों की मछलियों, केंचुओं, चिड़ियों के अण्डों और मानव में भी पाए गए हैं।

कीटनाशियों का बड़े पैमाने पर उत्पादन द्वितीय महायुद्ध की देन है। युद्ध के दौरान ही ऐसे रसायनों को बड़े पैमाने पर संश्लेषित करने की आवश्यकता सामने आई जिनमें कीटनाशक गुण थे। प्रयोगशाला में रासायनिक युद्ध के लिए आयुध तैयार करते समय कुछ रसायनों के कीटनाशक गुण सामने आए। धीरे-धीरे सरल रसायनों से जटिलतर कीटनाशी पदार्थ तैयार किए जाने लगे। इन शक्तिशाली रसायनों में वस्तुओं को केवल विषाक्त करने की ही शक्ति नहीं है बल्कि शरीर में प्रवेश कर उसकी महत्त्वपूर्ण क्रियाओं को गड़बड़ा देने की भी क्षमता है।

डी. डी. टी. (डाइक्लोरो डाइफिनाइल ट्राइक्लोरोईथेन) का विश्वव्यापी स्तर पर बहुत अधिक उपयोग होने लगा। सबसे पहले इसका उपयोग महायुद्ध में सैनिकों, शरणार्थियों व कैदियों की जुएं मारने के लिए किया गया था। डी. डी. टी. चूर्ण रूप में त्वचा द्वारा नहीं सोखा जाता, लेकिन तेल में घोलने पर विषैला हो जाता है। शरीर में प्रविष्ट

होने पर यह वसा प्रधान अंगों में जमा होता रहता है। अधिकांशतः यह जिगर, गुर्दे और आंतों को सम्हाले रखने वाली आंत्रयोजनी की वसा में जमा हो जाता है।

इसके अल्पांश से ही शरीर के एंजाइमों का संदमन व जिगर की कोशिकाओं का ह्रास हो जाता है और अन्य कुपरिणाम भी सामने आते हैं। जहां तक कीड़ों को मारने का प्रश्न है डिल्ड्रिन और क्लोरडेन व्यावसायिक नामों से बिकने वाले रसायन बहुत प्रभावकारी होते हैं। आज से पचास वर्ष पूर्व ही, 1930 के दशक में, यह पता लगा लिया गया था कि हेपेटाइटिस क्लोरीनीकृत नैफ्थलीन के उपयोग से भी हो जाता है। डिल्ड्रिन और एन्ड्रिन नामक कीटनाशी अपने वर्ग में सबसे अधिक विषैले हैं और इनमें भी एल्ड्रिन सबसे अधिक। दूसरी किस्म के कीटनाशी हैं ऐल्किल या कार्बनिक फास्फेट। ये अत्यन्त विषैले रसायन हैं। इनमें अधिकतर पैराथायोन प्रयुक्त होता है जो घातक विष है। दूसरा कार्बनिक फास्फेट मैलाथायोन है जो डी. डी. टी. की ही तरह प्रचलित है।

कीड़ों, चूहों, अन्य जीवों तथा बेकार वनस्पतियों के नियंत्रण के लिए छिड़के जाने वाले इन कीटनाशियों से प्रदूषण की मात्रा में निरंतर वृद्धि होती जा रही है। इस जल प्रदूषण समस्या में सबसे अधिक चौंकाने वाली बात यह है कि भूमिगत जल के प्रदूषण का भय व्यापक रूप से बढ़ता ही जा रहा है। वर्षा का जल भूमि में सोख जाता है और भूमिगत जल में मिल जाता है। इस भूमिगत जल के स्रोत नदियों या जलाशयों में पहुंच जाते हैं।

प्रदूषित जल ग्रहण करने से हमें आंत्रशोथ, पोलियो, हैजा, टायफायड जैसे रोग हो सकते हैं। साथ ही ऐसे जल से पौधों व फसलों की सिंचाई करने पर वे रोगग्रस्त हो सकते हैं। ये रोगग्रस्त पौधे फिर हमें हानि पहुंचा सकते हैं। भूमिगत और सतही जल में जीवनाशी रसायनों की उपस्थिति से सार्वजनिक जल में विषैले ही नहीं बल्कि कैंसरजन्य रसायन भी मिलते जा रहे हैं।

मिट्टी की जो पतली परत महाद्वीपों
हमारे, स्थलीय प्राणियों व पौधों के अस्ति
है। लेकिन भूमि भी जीवों पर निर्भर

वाले वायरस, बैक्टीरिया, कवक, कीड़े आदि मिलकर उसे जीवन्त और उर्वरा बनाये रखते हैं। वे एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं। हमने कभी भी यह ध्यान नहीं दिया कि इन रसायनों से भूमि की ऊपरी परत के लाभकारी और महत्वपूर्ण निवासियों पर, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से क्या बीतती होगी ? न कभी हमने यह सावधानी बरती कि लाभकारी कीट, बैक्टीरिया या अन्य सूक्ष्मजीव न मरें—केवल हानिकारी जीव ही मरें। न ही हमने कभी यह सोचा कि इतने विषैले रसायनों से तिलमिलाकर पृथ्वी अपनी बेइज्जती पर कभी 'उल्टी मार' भी करेगी। और न हमने कभी इस बात पर ध्यान दिया था कि भूमि तथा प्राणी व वनस्पतियों के ऊतक कितनी मात्रा में इन विषैले रसायनों को सोखते चले जा रहे हैं।

फसलों की रक्षा के लिए कीटनाशी बहुत जरूरी हैं।
पर उन्हें छिड़कने के समय पूर्ण सावधानी बरतें।

कीटनाशियों से भूमि में होने वाली नाइट्रोजन यौगिकीकरण क्रिया

भी मंद पड़ जाती है। अनेक वृक्ष, जीव-जन्तु लुप्त ही होते जा रहे हैं। प्रकृति की गरिमा बिगड़ती जा रही है। प्रकृति में स्वतः चलने वाला जैविक नियंत्रण नष्ट हो रहा है। इसीलिए अनेक देशों ने मछलियों, मेंढकों व जलीय प्राणियों के नाश को देखकर हेप्टाक्लोर, डिल्ड्रिन और अन्य विषों की हवाई फुहारों को बंद करने की सलाह दी है।

खतरनाक रसायनों का यह सम्पर्क अंततः दुखांत ही होता है। कितना ही अल्प सम्पर्क क्यों न हो, शरीर में धीरे-धीरे विषैले रसायनों का जमाव होता रहता है। आमतौर से हमें पता ही नहीं चलता कि हम इन्हें इस्तेमाल कर रहे हैं, किन्तु विडम्बना यह है कि घर की रसोई से लेकर दूर के जंगलों तक इनका खूब उपयोग हो रहा है।

जीवनाशी रसायनों से हमारी वायु, भूमि, जल और भोजन प्रदूषित हो रहे हैं। मनुष्य आज इस प्रदूषण से बच नहीं सकता क्योंकि अधिकांश कीटनाशियों के प्रभाव संचयी प्रकार के होते हैं—वे धीरे-धीरे हमारे शरीर में संचित होते रहते हैं और जब उनकी मात्रा काफी हो जाती है तो उनके प्रभाव स्पष्ट होने लगते हैं। इसलिए किसी व्यक्ति पर इनका प्रकोप उसके जीवन काल के समस्त प्रभावों का मिलाजुला परिणाम होता है।

हमारे शरीर के अन्दर होने वाले सूक्ष्म परिवर्तन भी अंततः संबद्ध अंगों, ऊतकों व सम्पूर्ण तंत्र में 'खलबली' मचा सकते हैं लेकिन आमतौर पर हम तुरन्त प्रकट होने वाले लक्षणों पर ही अधिक ध्यान देते हैं और अन्य लक्षणों को टाल जाते हैं। इसके दौरान विषैले पदार्थ शरीर की वसा में जमा होते रहते हैं। इस वसा को जब शरीर की क्रियायें उपयोग के लिए 'खींचती' हैं तब यह एकदम अपना असर दिखा सकता है। वसा को अनेक कार्य करने होते हैं और उसमें विद्यमान विष इसके कार्य में बाधा पहुंचा सकते हैं। वसा के माध्यम से ही उपापचयन और ऊर्जा प्राप्ति आदि महत्वपूर्ण क्रियायें सम्पन्न हो पाती हैं।

क्लोरोनीकृत हाइड्रोकार्बन रसायनों का सबसे अधिक कुप्रभाव यकृत पर पड़ता है। इस असाधारण अंग के बूते पर ही शरीर की अनेक महत्वपूर्ण क्रियायें चलती है। इसमें जरा-सी भी 'खराबी' आ जाने से भयंकर परिणाम भुगतने पड़ सकते है। यकृत वसा के पाचन के

लिए पित्त उत्पन्न करने के अतिरिक्त अन्य खाद्य पदार्थों के उपापचयन के लिए भी विविध क्रियाओं का सम्पादन करता है। यह शर्करा को उपयोगी ग्लाइकोजन के रूप में जमा रखता है। इसके कार्यों में रक्त के थक्के बनाने वाले पदार्थों व प्रोटीनों का निर्माण तथा रक्त के कोलेस्टरोल को उचित स्तर तक ही बनाए रखना भी शामिल है।

पर इन सबका यह अर्थ नहीं कि हमें कीटनाशियों का उपयोग ही नहीं करना चाहिए। लेकिन हमारा कल्याण तभी है जबकि हम इनका प्रयोग उचित, सीमित और मर्यादित तरीके से करें। इनका अंधाधुंध इस्तेमाल न करके हमें सावधानियां बरतनी होंगी। प्रकृति इतनी आसानी से हमारे सांचे में नहीं ढल सकेगी। कीट हमारे रसायनों के प्रति अपने को नये-नये तरीकों से बचाते जा रहे हैं। वे अपनी प्रतिरोध क्षमता बढ़ाते जा रहे हैं और हमारे रसायन उनकी प्रतिरोध क्षमता के प्रति कमजोर साबित होते जा रहे हैं। अतः नियंत्रण विधियों में हमें जोर-शोर से अनुसंधान और उपाय करने होंगे। हमारा ध्येय जोर-जबरदस्ती के असंगत तरीकों को अपनाना नहीं बल्कि संभाव्य साव-धानी से प्राकृतिक विधियों का निर्देशन होना चाहिए।

5. शोर प्रदूषण

धीमा मधुर संगीत सबको पसन्द आता है। पर अगर वह तीव्र होने लगता है तो अधिकांश व्यक्तियों के लिए कर्णकटु हो जाता है। उससे उन्हें बेचैनी होने लगती है। उसे सह पाना भी उनके लिए कठिन हो जाता है। वह अनावश्यक शोर बन जाता है।

प्राचीन काल में न तो मोटरें थीं, न रेल और न कारखाने। उस समय हवाई जहाज भी नहीं थे। इसलिए बादलों की गड़गड़ाहट, पहाड़ों का टूटना या पानी का ऊपर से गिरना ही कुछ ऐसी घटनायें थीं जिनसे भयंकर और बर्दाश्त न हो सकने वाली आवाजें उत्पन्न होती थीं; जगली जानवरों की आवाजों की तीव्रता इन प्राकृतिक घटनाओं के शोर के मुकाबले में बहुत कम होती थीं। इसलिए उस समय कहीं भी शोर-प्रदूषण नहीं था। आज शोर हमारे दैनिक जीवन का एक आवश्यक अंग बन गया है। भीड़ भरे शहरों में, विशेष रूप से घनी आबादी वाले इलाकों में, कहीं भी हम शोर से नहीं बच सकते।

शोर का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि शोर का कारण क्या है और उसकी तीव्रता कितनी है। ध्वनि की तीव्रता मापने की इकाई 'डेसिबेल' है। डेसिबेल पैमाने पर 'शून्य' ध्वनि की तीव्रता का वह स्तर है जहां से ध्वनि सुनाई देना आरम्भ होती है। इस प्रकार शून्य डेसिबेल वह ध्वनि है जिसे सामान्य कान द्वारा सुना जा सकता है।

नगरों में तोड़-फोड़ तथा नव निर्माण से होने वाले शोर के कारण सुबह से शाम तक नगर जीवन में किसी व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक डेसिबेल की ध्वनि मिलती है। इस प्रकार निर्माण से होने वाले शोर यों तो जीवन की सामाजिक आवश्यकता होती है परन्तु यह मानव जीवन को दूभर बना देते हैं। निर्वातक पंखे, मशीनें तथा यातायात के साधनों से सुबह से शाम तक अनेक प्रकार के शोर होते रहते

हैं। काम पर जाते हुए एक शहरी व्यक्ति को, चाहे वह रेल से जा रहा हो अथवा बस या खुली खिड़की वाली टैक्सी से, 10 से अधिक डेसीबेल के शोर का सामना करना पड़ता है। अधिकतर जलपान गृहों में भी भोजन काल के समय बर्तनों तथा उपस्थित भीड़ की ऊंची आवाज से अत्यधिक शोर होता है। औद्योगिक संस्थानों में गत कुछ वर्षों से अत्यधिक शोर होने लगा है। व्यावसायिक स्वास्थ्य कर्मियों के समक्ष इससे एक बड़ी समस्या आ खड़ी हुई है।

धुंध की तरह शोर भी मृत्यु का कारण हो सकता है। यदि शोर आने वाले 50 वर्षों में विगत 50 वर्षों की भांति ही बढ़ता रहा तो यह संहारक हो सकता है। पर्यावरण में शोर की तीव्रता प्रत्येक दस वर्ष में दुगनी होती जा रही है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि शोर से मानव स्वास्थ्य को हानि पहुंचती है। शोर के कारण स्थायी श्रवण दोष हो जाता है, इससे बातचीत में बाधा पड़ती है, कार्य दक्षता में कमी आती है, झुंझलाहट पैदा होती है। पिछले कई वर्षों से कर्मियों के श्रवणदोष को उनकी वय तथा अनुभव और शोर के प्रभाव स्तर से सम्बद्ध करने के प्रयास किए जा रहे हैं।

शोर से शारीरिक तनाव बढ़ता है। अत्यधिक शोर में (120 या अधिक डेसिबेल) अक्षि दोलन (निस्टैगमस) हो जाता है तथा चक्कर आने लगते हैं। शोर के कारण रक्तचाप, श्वसन गति तथा नाड़ी गति में उतार-चढ़ाव, जठरांत्र, गतिशीलता में कमी, रुधिर संचरण में परिवर्तन और यहां तक कि हृदय-पेशी के गुणों में भी परिवर्तन होता देखा जा सकता है। अधिक शोर के कारण शरीर में तंत्रिका विकृतियां होने की संभावना रहती है। अधिक शोर के कारण झुंझलाहट और भ्रांति भी हो सकती है।

कपड़ा मिल, ढलाई कारखाने, कागज की मिलें तथा अन्य अनेक उद्योगों में, जहां तेज गति से चलने वाली मशीनों से कार्य होता है, आमतौर पर शोर का स्तर ऊंचा रहता है। वहां के कर्मियों में उपरोक्त सभी स्वास्थ्य दोष बहुधा पाए जाते हैं। पाश्चात्य देश में राक संगीत शोर के कारणों में एक नई कड़ी है। हमारे देश में भी अब यह लोकप्रिय होता जा रहा है। साधारण कोटि का रॉक संगीत 120 डेसि-

बेल शोर पैदा करता है। प्रत्येक कारखाने में कौन कितनी आवाज उत्पन्न करता है यह निम्न सारणी में दर्शाया गया है।

	डेसीबेल में
वायुयान (रैम जैट इंजन)	180
टर्बो जैट इंजन	170
प्रोपेलर	150
जेट विमान	140
दो मीटर दूर होने वाली रिवेटिंग	130
(अधिकतम शोर जिसे हम बिना पीड़ा के सहन कर सकते हैं)	
न्यूमेटिक हथौड़ा, छोटे पिस्टन इंजन वाला विमान	120
इस्पात-पुल पर रेल, मोटर कार का हार्न (6 मीटर दूर)	110
भारी इंजीनियरी वर्कशाप, बुनाई मिल	100
ट्यूब रेल, भारी ट्रैफिक	90
व्यस्त कार्यालय	80
सामान्य ट्रैफिक	70
एक मीटर दूर होने वाली बातचीत, हल्का ट्रैफिक	60
शांत कार्यालय	50
शहर का घर	40
गांव का घर	30
एक मीटर दूर सामान्य फुसफुसाहट	20
दो मीटर दूर हल्की फुसफुसाहट	10
सुनने की शुरुआत	0

अन्य सभी प्रदूषणों की भांति शोर प्रदूषण को कम करने की भी बहुत-सी युक्तियां हैं परन्तु उनका उपयोग नहीं किया जाता। मद्रास, बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली तथा अहमदाबाद में तो यह समस्या अभी भी भयंकर रूप में विद्यमान है। यद्यपि बहुत से राज्यों में शोर रोकने के लिए कुछ कानून हैं लेकिन उन्हें कड़ाई के साथ लागू नहीं किया जाता। अभी हाल ही में दिल्ली में मोटर वाहनों में बहुध्वनि वाले हार्न बजाने पर प्रतिबंध लगाया गया है परन्तु फिर भी आप सड़क पर इन हार्नों की आवाज सुन सकते हैं। हमारे देश में शोर एक बहुत बड़ी समस्या है और काफी अधिक लोग इससे प्रभावित होते हैं।

हम देखते हैं कि शोर एक तरफ हमारे स्वास्थ्य को कमजोर बनाता है, दूसरी तरफ कार्य क्षमता में तथा उत्पादन में कमी और दुर्घटनाओं का कारण भी बनता है।

शोर से होने वाली इस दोहरी हानि के बावजूद बहुत कम लोग इसकी गम्भीरता को महसूस कर रहे हैं। आज भी हमारी सड़कों पर जगह-जगह लाउडस्पीकर गूंजते हैं, गली के हर मोड़ पर लगी पान की दुकानों के रेडियो पूरे वाल्युम पर खुले रहते हैं। सम्भवतया उस वक्त हम इस तथ्य से अवगत नहीं होते कि यह शोर हमारे दिल, दिमाग तथा पूरे वातावरण पर प्रतिकूल असर करता है। इस अनभिज्ञता का कारण तो वैज्ञानिक दृष्टि की कमी ही हो सकती है। अस्पताल के बाहर भी लोग हार्न बजाए बिना नहीं रहते। यदि इन छोटी-छोटी बातों की गम्भीरता को समझें तो शहर में शोर कम हो सकता है तथा इसके घातक प्रभावों से बचा जा सकता है।

कारखानों में शोर नियंत्रण : कारखानों में होने वाले शोर से बचने के भी कई उपाय सोचे जा सकते हैं। जिन मशीनों में शोर कम करने वाले साइलेंसर लग सकते हों वहां साइलेंसर लगा लेने चाहिए तथा जिनका शोर कम नहीं हो सकता उनको चलाने वाले मजदूरों को आवश्यक रूप से ईयर प्लग्स, ईयर मफ्स अथवा हेलमैटों का उपयोग करना चाहिए। वेल्डिंग में होने वाले शोर को रिवेटिंग का प्रचलन बढ़ाकर कम किया जा सकता है। धातु पर हाई स्पीड पालिशिंग में होने वाला शोर रासायनिक सफाई करके कम किया जा सकता है। इसके अलावा मशीनों की समय-समय पर सफाई करके तथा तेल व ग्रीज देकर उनके अतिरिक्त शोर को कम किया जा सकता है। यदि कोई पुर्जा घिस गया हो, तो उसे तत्काल बदल देना चाहिए क्योंकि घिसे पुर्जों वाली मशीनें अधिक शोर करती हैं। ध्वनि शोषक मशीनों का उपयोग भी शोर के घातक प्रभाव से हमें बचाएगा तथा हमारे स्वास्थ्य की रक्षा करेगा। रूस में ऐसे उपकरणों का प्रयोग बहुत पहले से हो रहा है। इन उपकरणों के अतिरिक्त स्थान-स्थान पर ध्वनि-शोषक यंत्र लगाकर भी अनावश्यक शोर से बचा जा सकता है। अब जैसे-जैसे इस बात की गम्भीरता को महसूस किया जा रहा है वैसे ही नवीनतम उपाय सामने आ रहे हैं। ध्वनि-शोषक सड़कों के निर्माण की बात

जितनी उपयोगी है उतनी ही रोचक भी।

जन-स्वास्थ्य को तथा उत्पादन में होने वाली हानि को देखते हुए कई देशों में अनावश्यक कोलाहल पर कानूनी रोक लगाई जा रही है। इस प्रकार की रोक लगाने के लिए शोर की तीव्रता की एक सीमा निर्धारित करनी अनिवार्य है। इसलिए इस तीव्रता को मापने तथा इसके घातक प्रभावों का पता लगाने की दिशा में वैज्ञानिक अन्वेषण किए गए तथा उनसे प्राप्त तथ्यों के आधार पर शोर की तीव्रता की सीमा भी निर्धारित की गई।

पराश्रव्य ध्वनि की आवृत्ति 30 साइकिल प्रति सेकण्ड से कम होती है और इसे सुना नहीं जा सकता। तो भी यह मानव शरीर को अवश्य प्रभावित करती है। इससे बेचैनी तथा व्याकुलता होती है। हवाई जहाज में यात्रा करने वाले व्यक्तियों के साथ कभी-कभी ऐसा होता है। अध्ययनों से पता चला है कि वायुयानों की पराश्रव्य ध्वनियों से हवाई अड्डों के निकट रहने वालों को कोई शारीरिक क्षति नहीं पहुंचती। हां, हवाई शोर से अवश्य पहुंचती है।

शोर तो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है ही, पूर्ण शांति भी ठीक नहीं है। ध्वनिरोधी कक्ष में बंद रहने पर व्यक्ति अपने हृदय की धड़कन जैसी ध्वनि से भी क्षुब्ध हो जाता है और काफी समय तक ऐसी स्थिति में रहने पर गम्भीर मनोवैज्ञानिक विकृतियां उत्पन्न हो सकती हैं।

6. रेडियोधर्मी विकिरण और उनके दुष्प्रभाव

अगस्त 6, 1945 और 20 अप्रैल 1986, मानव इतिहास की अविस्मरणीय तिथियां हैं। पहली तिथि को प्रथम परमाणु बम हिरोशिमा (जापान) पर डाला गया था और दूसरी तिथि को चैर्नोबिल (रूस) के परमाणु बिजलीघर में पहली भयंकर दुर्घटना हुई थी। यद्यपि पहली घटना का सम्बन्ध युद्ध से था—उसमें जानबूझकर नर-संहार किया गया था—जबकि दूसरी में अनजाने ही, असावधानीवश, नर-संहार हो गया। पर दोनों का सम्बन्ध नाभिकीय विकिरणों के दुष्प्रभावों से था।

परमाणु बमों के विस्फोटों (दूसरा परमाणु बम, दो दिन बाद, 8 अगस्त 1945 को जापान के ही एक अन्य शहर, नागासाकी, पर डाला गया था) के फलस्वरूप हजारों आदमियों की तत्काल मृत्यु हो गई थी, लाखों व्यक्ति संघातिक रूप से घायल हो गए थे और परोक्ष रूप से प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संख्या तो बहुत अधिक थी। पर इन परमाणु बम विस्फोटों के कदाचित सबसे हानिकारी प्रभाव थे उत्परिवर्तन, जिनसे आने वाली पीढ़ियों के प्रभावित होने की आशंका है।

1928 में ही नोबेल पुरस्कार विजेता डा. एच. जे. मुलर ने प्रयोगों से सिद्ध कर दिया था कि रेडियोधर्मी तत्व स्वास्थ्य के लिए हानिकर होते हैं। उन्होंने बताया था कि रेडियोधर्मी विकिरणें जीवों में स्थायी परिवर्तन ला सकती हैं। ये किरणें जीवों के क्रोमोसोमों तथा उन पर स्थित जीनों को प्रभावित करती हैं जिससे स्थायी आनुवंशिक परिवर्तन हो जाते हैं। जीनों में होने वाले ये परिवर्तन उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) कहलाते है। उत्परिवर्तन प्राकृतिक रूप से भी होते रहते हैं तथा एक जाति विशेष के विभिन्न सदस्यों की विविधता का मूलभूत कारण

उत्परिवर्तन ही है।

दैहिक व आनुवंशिक प्रभाव—रेडियोधर्मी विकिरण मनुष्य को दो प्रकार से प्रभावित कर सकते हैं—एक तो दैहिक रूप से और दूसरे आनुवंशिक रूप से। विकिरणजन्य दैहिक तथा आनुवंशिक परिवर्तनों में अन्तर यह है कि विकिरण के दैहिक प्रभाव व्यक्ति विशेष तक ही सीमित रहते हैं; उनकी संतानों को वे ग्रसित नहीं करते। उदाहरणार्थ रेडियोधर्मी तत्वों से काम करने वाले अनेक व्यक्तियों के अंग विकृत हो जाते हैं। एक्स किरणों की खोज करने वाले जर्मन वैज्ञानिक, रांतजन, की अंगुलियां गल गई थीं, जो कभी ठीक न हो सकीं। रेडियोधर्मी तत्वों से इसी प्रकार की अन्य शारीरिक व्याधियां उत्पन्न हो सकती हैं। लेकिन ये रोग वंशानुगत नहीं होते, अर्थात एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में नहीं चलते। विकिरणजन्य आनुवंशिक परिवर्तन पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहते हैं और उनका उपचार भी अत्यन्त कठिन होता है। विकिरणों द्वारा सर्वाधिक क्षति विभाजन के दौर से गुजर रही कोशिकाओं को होती है। यही कारण है कि गर्भवती स्त्रियों के प्रायः एक्स किरण चित्र नहीं लिए जाते, क्योंकि गर्भस्थ शिशु की कोशिकाएं निरन्तर विभाजित होती रहती हैं। एक्स किरणों अथवा किसी भी अन्य रेडियोधर्मी स्रोत से काम करने वाले व्यक्ति प्रायः एक विशेष प्रकार की पोशाक पहन कर कार्य करते हैं। इससे विकिरणों द्वारा शरीर को होने वाली क्षति की संभावना काफी कम हो जाती है।

*अधिकांश लोगों को पता नहीं है कि मानव जाति निरन्तर विकि-*रणों के प्रभाव में आती जा रही है, जिसका 68 प्रतिशत प्राकृतिक पृष्ठभूमि से, 31 प्रतिशत चिकित्सीय विकिरण से, 0.6 प्रतिशत नाभिकीय परीक्षणों के 'फाल आउट' से और केवल 0.15 प्रतिशत नाभिकीय शक्ति उद्योगों से आता है।

*विकिरणों द्वारा जीन परिवर्तन के प्रयोगों के बलबूते पर ही आज-*कल गेहूं, ज्वार, बाजरा, मक्का, धान आदि के अधिक उपज व बड़े दाने वाले और रोगसह्य पौधे धड़ाधड़ पैदा किए जा रहे हैं। सूक्ष्मदर्शी अध्ययनों से ज्ञात होता है कि ये विकिरण गुणसूत्रों को तोड़ने में सहायक होते हैं। वे गुणसूत्रों में सभी प्रकार के विपथन या असामान्यतायें उत्पन्न करते हैं। इन परिवर्तनों की संख्या और विकिरणों की मात्रा में

परस्पर प्रत्यक्ष रूप से समानुपात होता है। आनुवंशिकविद् इस बात से सहमत हैं कि विकिरण द्वारा प्रेरित उत्परिवर्तनों की कोई सीमा नहीं है। ऐसी कोई अल्प मात्रा नहीं है जिससे जरा भी उत्परिवर्तन न हों। कहने का मतलब यह है कि अल्प से अल्प विकिरणों से भी कुछ न कुछ उत्परिवर्तन अवश्य होता है। विकिरणों की खुराक कितनी ही अल्प क्यों न हो उससे गर्भधारण की अवस्था और जनन के बीच भावी पीढ़ियों के लिए खतरे की सम्भावना हो ही जाती है।

नाभिकीय विस्फोट परीक्षण

मात्रात्मक अनुमान करने बैठें तो कुछ अनिश्चिततायें सामने आती हैं, क्योंकि मानव सम्बन्धी आंकड़े अभी अपर्याप्त हैं और प्रयोगात्मक प्राणियों में परिणाम जातियों के अनुसार बदलते जाते हैं। उदाहरण के लिए एक निश्चित विकिरण मात्रा के प्रति चूहे फलमक्खियों की अपेक्षा 18 गुना अधिक संवेदनशील होते हैं। चूहा, फलमक्खी की अपेक्षा बड़े शरीर और लम्बे जीवन चक्र वाला होता है। इसीलिए वह संवेदनशील होता है। अतः इसी आधार पर मानव में चूहे की अपेक्षा और अधिक उत्परिवर्तन होने चाहिए।

उत्परिवर्तन ही है।

दैहिक व आनुवंशिक प्रभाव—रेडियोधर्मी विकिरण मनुष्य को दो प्रकार से प्रभावित कर सकते हैं—एक तो दैहिक रूप से और दूसरे आनुवंशिक रूप से। विकिरणजन्य दैहिक तथा आनुवंशिक परिवर्तनों में अन्तर यह है कि विकिरण के दैहिक प्रभाव व्यक्ति विशेष तक ही सीमित रहते हैं; उनकी संतानों को वे ग्रसित नहीं करते। उदाहरणार्थ रेडियोधर्मी तत्त्वों से काम करने वाले अनेक व्यक्तियों के अंग विकृत हो जाते हैं। एक्स किरणों की खोज करने वाले जर्मन वैज्ञानिक, रांत-जन, की अंगुलियां गल गई थीं, जो कभी ठीक न हो सकीं। रेडियो-धर्मी तत्त्वों से इसी प्रकार की अन्य शारीरिक व्याधियां उत्पन्न हो सकती हैं। लेकिन ये रोग वंशानुगत नहीं होते, अर्थात एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में नहीं चलते। विकिरणजन्य आनुवंशिक परिवर्तन पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहते हैं और उनका उपचार भी अत्यन्त कठिन होता है। विकिरणों द्वारा सर्वाधिक क्षति विभाजन के दौर से गुजर रही कोशिकाओं को होती है। यही कारण है कि गर्भवती स्त्रियों के प्रायः एक्स किरण चित्र नहीं लिए जाते, क्योंकि गर्भस्थ शिशु की कोशिकाएं निरन्तर विभाजित होती रहती हैं। एक्स किरणों अथवा किसी भी अन्य रेडियोधर्मी स्रोत से काम करने वाले व्यक्ति प्रायः एक विशेष प्रकार की पोशाक पहन कर कार्य करते हैं। इससे विकिरणों द्वारा शरीर को होने वाली क्षति की संभावना काफी कम हो जाती है।

अधिकांश लोगों को पता नहीं है कि मानव जाति निरन्तर विकि-रणों के प्रभाव में आती जा रही है, जिसका 68 प्रतिशत प्राकृतिक पृष्ठ-भूमि से, 31 प्रतिशत चिकित्सीय विकिरण से, 0.6 प्रतिशत नाभिकीय परीक्षणों के 'फाल आउट' से और केवल 0.15 प्रतिशत नाभिकीय शक्ति उद्योगों से आता है।

विकिरणों द्वारा जीन परिवर्तन के प्रयोगों के बलबूते पर ही आज-कल गेहूं, ज्वार, बाजरा, मक्का, धान आदि के अधिक उपज व बड़े दाने वाले और रोगसह्य पौधे धड़ाधड़ पैदा किए जा रहे हैं। सूक्ष्मदर्शी अध्ययनों से ज्ञात होता है कि ये विकिरण गुणसूत्रों को तोड़ने में सहा-यक होते हैं। वे गुणसूत्रों में सभी प्रकार के विपथन या असामान्यतायें उत्पन्न करते हैं। इन परिवर्तनों की संख्या और विकिरणों की मात्रा में

परस्पर प्रत्यक्ष रूप से समानुपात होता है। आनुवंशिकविद् इस बात से सहमत हैं कि विकिरण द्वारा प्रेरित उत्परिवर्तनों की कोई सीमा नहीं है। ऐसी कोई अल्प मात्रा नहीं है जिससे जरा भी उत्परिवर्तन न हों। कहने का मतलब यह है कि अल्प से अल्प विकिरणों से भी कुछ न कुछ उत्परिवर्तन अवश्य होता है। विकिरणों की खुराक कितनी ही अल्प क्यों न हो उससे गर्भधारण की अवस्था और जनन के बीच भावी पीढ़ियों के लिए खतरे की सम्भावना हो ही जाती है।

नाभिकीय विस्फोट परीक्षण

मात्रात्मक अनुमान करने बैठें तो कुछ अनिश्चिततायें सामने आती हैं, क्योंकि मानव सम्बन्धी आंकड़े अभी अपर्याप्त हैं और प्रयोगात्मक प्राणियों में परिणाम जातियों के अनुसार बदलते जाते हैं। उदाहरण के लिए एक निश्चित विकिरण मात्रा के प्रति चूहे फलमक्खियों की अपेक्षा 18 गुना अधिक संवेदनशील होते हैं। चूहा, फलमक्खी की अपेक्षा बड़े शरीर और लम्बे जीवन चक्र वाला होता है। इसीलिए वह संवेदनशील होता है। अत: इसी आधार पर मानव में चूहे की अपेक्षा और अधिक उत्परिवर्तन होने चाहिए।

परमाणु-विकिरणों के प्रभाव पर संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक रिपोर्ट के अनुसार 4 प्रतिशत मानव-शिशुओं में अभी या बाद में गम्भीर आनुवंशिक दोष होंगे। यद्यपि यह अज्ञात है कि इसका कितना अंश उत्परिवर्तन दर से सम्बन्धित है, तो भी संयुक्त राष्ट्र संघ की समिति ने अनुमान लगाया है कि उत्परिवर्तन दर को दुगुना कर देने से यह संख्या 4 प्रतिशत से बढ़कर 5-8 प्रतिशत तक हो सकती है। विकिरण की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप माता-पिता से दोषी जीन शिशु में पहुंच जाते हैं।

विशेषज्ञों का कहना है कि विकिरणों की कोई निर्धारित सीमा नहीं है जिससे रोग न हो। आनुवंशिक हानि के संदर्भ में तो कितनी ही कम मात्रा क्यों न हो हानि अवश्य पहुंचेगी। यह तो थी शरीर से बाहर से आने वाले विकिरणों की बात, लकिन शरीर के अन्दर के पदार्थों से भी विकिरण पैदा होने लगते हैं, जैसे कि 'फाल-आउट' के रेडियोधर्मी उत्पाद स्ट्रांशियम, सीजियम, बेरियम, आयोडीन आदि से। इस प्रकार के विकिरणों के कुप्रभाव समस्थानिक विशेष, विकिरण के प्रकार व परास, शरीर द्वारा ली गई मात्रा, रहने की अवधि, ग्राही अंग आदि पर निर्भर करते हैं।

कुछ विकिरण, जैसे कि अल्फा कण जीवों के अंगों के लिए अधिक हानिकारी होते हैं। प्रभाव के हिसाब से पहले, अल्फा कण फिर, न्यूट्रान और बीटा कण तथा सबसे बाद में एक्स-किरणों का स्थान आता है। इन कणों द्वारा अंगों से आयन उत्पन्न होने लगते हैं जो कोशिका या शरीर की इकाई के प्रमुख अणुओं व संरचनाओं को विचलित कर हानि पहुंचाते हैं।

विकिरणो से कैंसर, त्वचा-कैंसर हो जाता है। जर्मन खानों में पिचब्लेंड अयस्क या रेडियम खोदने वालों में आधे लोगों की मृत्यु फेंफड़ों के कैंसर से होती है। इसी तरह रेडियम घड़ी के पेन्टर के शरीर में अस्थि ट्यूमर देखे जाते हैं। यह भी देखा गया है कि एक्स-किरणों से या रेडियोधर्मी पदार्थ के इंजेक्शनों से भी अस्थि कैंसर हो जाता है।

रेडियोधर्मी अवशेषों को फेंकने के लिए राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय नियम बने हुए हैं। इनके अनुसार अल्प मात्रा में इन्हें हम अनियंत्रित रूप से फेंक सकते हैं। लेकिन थोड़ी-थोड़ी मात्रा में भी अनियंत्रित रूप से फेंकने से रेडियोधर्मिता तीव्र गति से बढ़ती जा रही है।

7. निवारण के उपाय

प्रदूषण को प्रगति का बोनस कहा जाता है। बीमारियों की रोक-थाम और इलाज का परिणाम होता है अधिक लम्बी जीवन अवधि; मृत्युदर में कमी और जनसंख्या में वृद्धि। अधिक जनसंख्या को अधिक अनाज, कपड़ा और मकान चाहिए। रोजगार के लिए अधिक अवसर चाहिए तथा जीवनयापन के लिए आवश्यक अन्य सुविधाएं और सामग्री। अधिक अन्न उत्पादन करने, अधिक मकान बनाने, अधिक कारखाने स्थापित करने, तथा अधिक यातायात के साधन जुटाने के लिए हमें और अधिक जंगलों की कटाई करके खेत मकान, कारखानों और सड़कों आदि के लिए जगह बनानी पड़ती है। अधिक से अधिक उपज प्राप्त करने के लिए खेतों में उर्वरक, कीटनाशी और पीड़कनाशी डालने पड़ते हैं तथा सिंचाई व्यवस्था करनी पड़ती है। कारखानों के लिए कच्चे माल, खनिज आदि उपलब्ध कराने होते हैं और साथ ही उपलब्ध करानी पड़ती है बड़ी मात्रा में ऊर्जा। ऊर्जा उत्पन्न करने के लिए कोयला, पेट्रोलियम, गैस जलानी पड़ती है। इन सबसे उत्पन्न होते हैं बड़ी मात्रा में ऐसे पदार्थ जिनका हम अभी उपयोग नहीं कर पाते। इसलिए इन्हें 'बेकार' समझकर खाली पड़ी जमीन पर या नदी-नालों में फेंकना पड़ता है। इस प्रकार जैसे-जैसे हम प्रगति करते जाते हैं घरेलू गंदगी और औद्योगिक अवशेष पदार्थों की मात्राएं बढ़ती जाती हैं और साथ ही बढ़ती है इन्हें विसर्जित करने की समस्याएं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए जाने-अनजाने में प्राकृतिक संतुलन के साथ और अधिक छेड़छाड़ हो जाती है। और इन सबसे फैलते हैं वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, शोर प्रदूषण तथा अन्य प्रकार के प्रदूषण। अगर हमें प्रगति करनी है—जिसके बारे में कोई संदेह नहीं, तो ऐसे पदार्थ जिनसे प्रदूषण फैलता है, उत्पन्न होंगे ही। इसलिए हमें ऐसे उपाय सोचने हैं जिनसे व्यर्थ पदार्थ, जो आमतौर से हानिकारी और जहरीले होते

हैं, भी ठिकाने लग जाएं और उनसे किसी को हानि भी न पहुंचे। परिस्थिति कीविदों के लिए आज यह सबसे बड़ी समस्या बनी हुई है और विभिन्न देशों में इस बारे में अनुसंधान किए जा रहे हैं। कुछ विद्वानों का यह मत है और वह बहुत उपयुक्त है कि प्रदूषण नियंत्रण के लिए हमें उन जनजातियों का अध्ययन करना चाहिए जो अब भी 'जंगलियों' के रूप में रहती हैं। वे प्रकृति का 'उपयोग' करती हैं; उसे 'लूटती' नहीं। वे उससे केवल उतनी ही वस्तुएं लेती हैं जितनी उनके लिए परमावश्यक है। वे ऐसे व्यर्थ पदार्थ 'उत्पन्न' करती है जो प्राकृतिक जैवरासायनिक क्रियाओं द्वारा आसानी से विघटित हो जाते है। इसलिए अततः इन जनजातियों के इलाकों में ऐसी वस्तुएं नहीं रह पातीं जो प्रदूषण फैलाएं।

इसके विपरीत महानगर संस्कृति के अनुसार मनुष्य ही विश्व का सर्वप्रमुख जीव है—वही एकमात्र जीव है—जो प्रकृति का दोहन करता है, उसे लूटता है और बदले में पाता है प्रदूषण।

यहां यह बताना युक्तिसगत होगा कि प्राचीन काल में हमारे पूर्वज भी प्रदूषण न उत्पन्न करने के प्रति सजग थे। ईशोपनिषद में इस बात के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।

ईशा वास्यं इदं सर्वं।
यत्किन्च जगत्यां जगत्॥
तेन त्यक्तेस मुं जीयाः।
मा गृध, कस्यचित् धनम्॥

मौर्यकालीन भारत में भी ऐसे नियम थे और उनका राज्य की ओर से पालन कराया जाता था, जिनके अनुसार जीव-जन्तुओं को मारने अथवा उन्हें हानि पहुंचाने वाला व्यक्ति दंड का भागी होता था। उस समय पेड़-पौधों के संरक्षण के लिए भी स्पष्ट कानून थे। आज भी हमारी पर्यावरण संरक्षण नीति का यही आधार है।

आज पर्यावरण को स्वच्छ और स्वास्थ्यवर्धक और प्रदूषणरहित रखने के लिए राष्ट्रीय ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयत्न किए जा रहे हैं।

पर्यावरण में उपस्थित प्रदूषकों पर विश्वव्यापी चिन्ता की शुरूआत स्टाकहोम में, 1972 में, आयोजित मानव पर्यावरण पर अंतर्राष्ट्रीय

संगोष्ठी में हुई । पर्यावरण से सम्बन्धित समस्याओं पर विश्व स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण कार्यक्रम (यू. एन. ई. पी.), 'हैबिटेट' पर अंतर्राष्ट्रीय संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन, पर्यावरणीय उत्प्रेरकों और कैंसरजनों से सुरक्षा के लिए अंतर्राष्ट्रीय कमीशन, विश्व वन्य पशु संगठन और अन्य ऐसे हो संगठन कार्य कर रहे हैं। हर वर्ष विश्व स्तर पर पर्यावरण दिवस मनाया जाना मनुष्य की इस चिंता को व्यक्त करने का एक तरीका है जो प्रदूषण के खतरों से अपने पर्यावरण को साफ रखने के प्रति वे अनुभव करते हैं।

17 मई, 1979 को ग्यारह भूमध्यसागरीय देशों ने एक संधि पर हस्ताक्षर किए जिसके अनुसार उन्होंने अपनी नदियों और मल-जल प्रवाह को साफ करने का जिम्मा लिया ताकि भूमध्यसागर प्रदूषकों से मुक्त रहे। यह संधि अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण कार्यक्रम की क्षेत्रीय सागर योजना का सफल परिणाम है।

वाशिंगटन में 5 मार्च 1980 को 200 पर्यावरण विशेषज्ञ इकट्ठे हुए थे। उनका उद्देश्य था अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के अन्तर्गत विश्व को परिरक्षित करने की नीति पर विचार विमर्श करना। यह सम्मेलन इस संचेतना का प्रतीक था कि विकास की योजना में पर्यावरण के संतुलन और संरक्षण का समन्वय एक गतिशील विश्व समाज के विकास के लिए आवश्यक है।

राष्ट्रीय स्तर पर स्वीडन, जापान, सिंगापुर, अमरीका, रूस, जर्मनी और अन्य अनेक देशों में पर्यावरण संगठन स्थापित किए गए हैं जो इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर रहे हैं। अमरीका की पर्यावरण सुरक्षा एजेंसी ने बाजार में इस्तेमाल किए जाने वाले 35,000 ऐसे रसायनों की सूची बनाई है जिन्हें मानव स्वास्थ्य के लिए संभावी खतरा बताया जा रहा है। इस खतरे की धीरे-धीरे होने वाली स्वीकृति ने राज्य स्तर पर ऐसे कानून बनाने में मदद दी है कि जिन्होंने अवशेष के अनुचित निपटान को दण्डनीय अपराध की श्रेणी में रख दिया है। 1979 के न्यू जर्सी के एक कानून के अन्तर्गत अपराधियों को 50,000 डालर प्रतिदिन का जुर्माना देने का दण्ड दिया जा सकता है। यह सजा 10 वर्ष तक के कारागार में भी परिवर्तित हो सकती है।

ब्रिटेन में थेम्स नदी को साफ करने का अभियान कई वर्ष पूर्व शुरू

जीव मंडल में यूट्रीफिकेशन
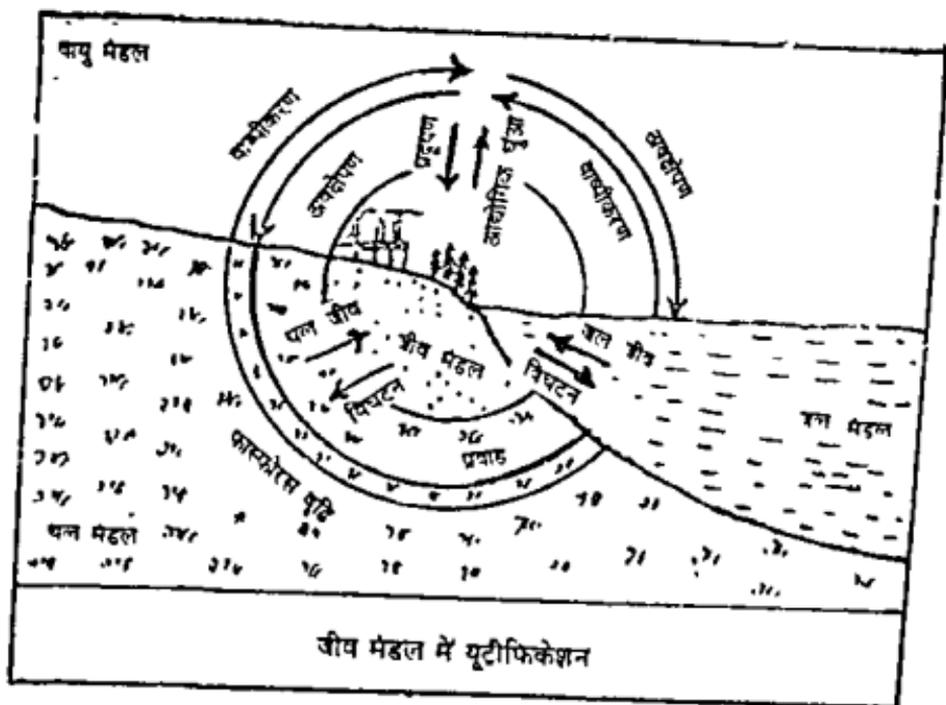
वायुमण्डल, जलमण्डल और थल के बीच निरंतर चलते रहने वाला चक्र जिसके फलस्वरूप वायु जल और थल शुद्ध रहे आते हैं। प्रदूषण इस चक्र में व्यवधान उत्पन्न कर रहा है।
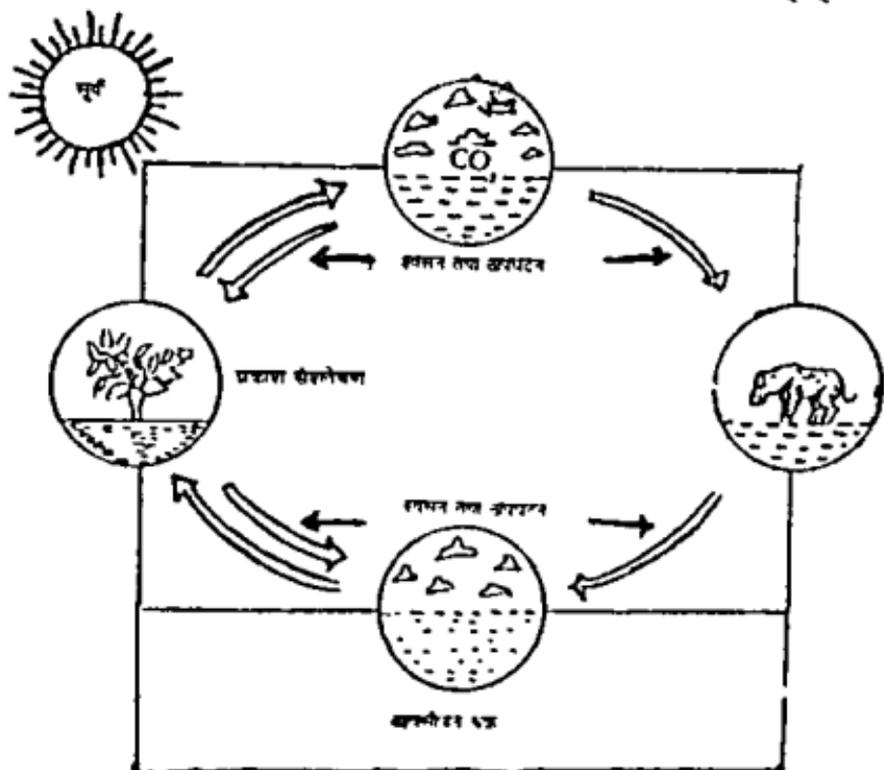
आक्सीजनचक्र : ऐसा चक्र जिसके कारण वायुमण्डल में आक्सीजन की मात्रा सदैव समान एक जैसी रही आती है।

किया गया था और इस नदी में सालमोन मछली फिर से वापस आ गई है। जर्मनी में जहां पर्यावरण सम्बन्धी कानून काफी कठोर हैं पर्यावरण की सुरक्षा के लिए अनेक कानूनी तरीके अपनाए गए हैं। संविधान में किए गए एक परिवर्तन ने वहां की राष्ट्रीय सरकार को वायुमंडल की शुद्धता, शोर में कमी करने और अवशेष निपटान के लिए कानून बनाने का अधिकार दे दिया है।

सुदूर पूर्व के देशों में अवशेष को सम्पदा में परिवर्तित करने और आर्थिक विकास के लिए इस्तेमाल करने में सिंगापुर की सफलताएं उल्लेखनीय हैं। वहां एक स्वतन्त्र मंत्रालय के अतिरिक्त प्रदूषणरोधी सैल कानून के सही पालन के लिए प्रतिबद्ध है और अत्यन्त सक्रिय है। जापान में भी पर्यावरण सम्बन्धी कानून का कठोरतापूर्वक पालन किया जाता है। उदाहरण के लिए कैडमियम का इस्तेमाल पूर्ण रूप से बन्द कर दिया गया है क्योंकि जैव प्रणालियों पर उसका काफी जहरीला प्रभाव पाया गया है।

हमारे देश में भी पर्यावरण संरक्षण पर पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है। इसके लिए संविधान के 48 ए अनुच्छेद में पर्यावरण संरक्षण का प्रावधान कर दिया गया है। खानों समेत सभी प्रकार के उद्योगों के लिए, उनके बहि:स्राव आदि से सम्बन्धित मानक बनाने के लिए 1948 में भारतीय मानक संस्था स्थापित की गई।

तब से कानूनों की एक श्रृंखला बन गई है जो हमारे पर्यावरण के संरक्षण और शुद्धता के प्रति हमारी सरकार की चिन्ता की द्योतक हैं। इन कानूनों में उल्लेखनीय है; कारखाना संशोधन अधिनियम 1948 (1976 में संशोधित); कीटनाशी अधिनियम 1975; और वायु प्रदूषण अधिनियम 1978। राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर वन्य जीव-बोर्ड (वाइल्ड लाइफ बोर्ड) इस उद्देश्य से बनाए गए हैं कि प्राकृतिक पारिस्थितिक प्रणाली को संरक्षित करें और पशु और पौधों के लिए अच्छा पर्यावरण उपलब्ध करायें।

इस बारे में हमारा सबसे महत्वपूर्ण संगठन "पर्यावरण योजना और समन्वयन की राष्ट्रीय समिति" है जो मानव पर्यावरण पर अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस के बाद, 1972 में स्थापित की गई थी। इसके मुख्य उद्देश्य योजना रहित विकास और जनसंख्या विस्फोट के परिणाम-

स्वरूप पर्यावरण के विघटन की समस्याओं को खोजना और उनका हल सुझाना है।

भारत में वन महोत्सव की योजना, आरंभ के कुछ वर्षों के उत्साह के पश्चात् कई वर्ष तक मात्र रूढ़िपालन जैसी हो गई थी। किन्तु पिछले दस-बारह वर्षों से स्वच्छ पर्यावरण और प्रदूषण की रोकथाम के संदर्भ में इसमें फिर स्फूर्ति आ गई है। अब तो प्रतिवर्ष पर्यावरण और प्रदूषण पर अथवा सम्बद्ध विषयों पर सैकड़ों लेख, भाषण, वृक्षारोपण तथा बीसियों संगोष्ठियों और सभाओं का आयोजन किया जाने लगा है। इन आयोजनों के प्रत्यक्ष लाभ न दिखते हुए भी लोगों में बहुत जागरूकता आ गई है और इसके अनेक उपयोगी और सफल परिणाम भी दिखने लगे हैं।

केन्द्रीय सरकार ने स्वच्छ पर्यावरण के महत्व को समझते हुए एक स्वतन्त्र पर्यावरण मंत्रालय स्थापित किया है। अनेक राज्य सरकारों ने भी पर्यावरण के संरक्षण के लिए मंत्रालय या विशेष समिति स्थापित की हैं। कुछ विश्वविद्यालयों तथा अन्य शिक्षा संस्थानों ने भी पर्यावरण पर शिक्षा देना आरम्भ कर दिया है।

यों तो पर्यावरण एवं प्रदूषण अत्यन्त विशाल विषय है और इसके बहुत से पहलू हैं परन्तु आइए हम एक सामान्य व्यक्ति या नागरिक की दृष्टि से देखें कि मुख्य समस्या क्या है और हमें क्या करना है।

जनसख्या नियन्त्रण—पर्यावरण को प्रदूषण से बचाने के लिए खेती, कारखानों, यातायात साधनों आदि क्षेत्रों में ऐसे उपाय अपनाये जाने चाहिए, जिनसे व्यर्थ पदार्थ कम से कम पैदा हों। अगर ऐसा हो जाता है तो उन्हें ठिकाने लगाने की समस्या भी उग्र नहीं होगी और प्रदूषण भी कम होगा।

इस बारे में कदाचित सबसे पहला कदम होगा जनसंख्या नियंत्रण। यदि हम अपनी आबादी को जरूरत से ज्यादा नहीं बढ़ने देंगे तो हमें अधिक-से-अधिक अन्न उगाने के नित नए उपाय नहीं सोचने पड़ेंगे। आवास समस्या को विकराल होने से रोका जा सकेगा। अधिक-से-अधिक उद्योग स्थापित नहीं करने पड़ेंगे। यातायात साधनों की क्षमता बढ़ाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। और यदि ऐसा हो जाता है तो व्यर्थ पदार्थों की मात्रा भी कम होगी और उन्हें ठिकाने लगाने की समस्या

भी दिनोंदिन उन्नतर नहीं होती जाएगी।

उदाहरण के तौर पर अपने देश को ही लीजिए। 1981 की जनगणना के अनुसार भारत की आबादी 68.5 करोड़ थी जो 1988 के मध्य बढ़कर 81 करोड़ से अधिक हो गई है। मात्र 7 वर्ष में लगभग 13.5 करोड़ बढ़ गई है। विश्व की कुल भूमि के 2.4 प्रतिशत भाग पर विश्व की आबादी का 15 प्रतिशत भाग आबाद है। प्रत्येक भारतीय के लिए 0.48 हेक्टेयर से भी कम भूमि उपलब्ध है जबकि अमेरिका में 4.14, रूस में 8.43, ब्रह्मा में 1.91 तथा चीन और पाकिस्तान में 0.98 हेक्टेयर भूमि है। इस प्रकार भारत में जनसंख्या घनत्व बहुत अधिक है और वह बढ़ता ही जा रहा है। अनुमान लगाया गया है कि वर्ष 2001 तक भारत की आबादी बढ़कर लगभग एक अरब हो जाएगी।

प्रश्न उठता है कि क्या हम अपनी तेजी से बढ़ती आबादी के लिए अतिरिक्त साधन जुटा पा रहे हैं? एकदम नहीं। अन्य समस्याओं के साथ जनसंख्या वृद्धि के फलस्वरूप प्रदूषण की समस्या भी बढ़ रही है।

इस प्रकार प्रदूषण नियंत्रण की दिशा में हमारा पहला कदम होगा जनसंख्या नियंत्रण।

जनसंख्या को नियंत्रित करने के विभिन्न उपाय किए जा रहे हैं। इस बारे में हमारे देश की सरकार ही नहीं अन्य देशों की सरकारें भी भरसक प्रयत्न कर रही हैं परन्तु बहुत कम देशों को वांछित सफलता मिली है। अधिकांश देशों की, विशेष रूप से विकासशील देशों की, जनसंख्या बढ़ती ही जा रही है। इसलिए हमें जनसंख्या नियंत्रण के साथ-साथ प्रदूषण नियंत्रण के उपाय भी करने पड़ेंगे।

भूमि ही सर्वोपरि है—किसी भी जन समुदाय या देश के जीवन के आधार के रूप में भूमि का स्थान सर्वोपरि है। हमारे पूर्वजों को यह तथ्य भली-भांति ज्ञात था। इसलिए वे उसे 'धरती मां' कहते थे, उसकी पूजा करते थे; उसकी देखभाल करते थे और उसे सही तरीके से इस्तेमाल करते थे। पर आज, विशेष रूप से उन जनसमुदायों या देशों में, जो बिना किसी सुनिश्चित योजना के, जल्दी-से-जल्दी, कृषि प्रधान से उद्योग प्रधान बन जाने के लिए उत्सुक हैं सबसे पहला शिकार होगी

है भूमि—उपजाऊ भूमि। बिना सोचे-समझे जंगल साफ कर दिए जाते हैं, खेतों पर कारखाने और मकान बना दिए जाते हैं और चारागाहों को खेल के मैदानों में बदल दिया जाता है। परिणाम होते हैं भूमि कटाव, भूमि का अनुर्वर हो जाना और अन्ततः हरे-भरे देश का रेगिस्तान में बदल जाना। इस बारे में इथोपिया का उदाहरण हमारे सामने है। एक अच्छा हरा-भरा देश, हमारे देखते-देखते रेगिस्तान में बदल गया है और अब वहां दुर्भिक्ष पीछा ही नहीं छोड़ता।

औद्योगिक विकास में उपजाऊ मिट्टी की महीन परत को उस महत्वपूर्ण वास्तविकता को आमतौर पर भुला दिया जाता है जो भोजन, इमारती सामान, मनोरंजन व सौन्दर्य और ऊर्जा का कुछ अंश उपलब्ध कराती है। विकासशील देशों से भूमि पर लोगों की निर्भरता स्पष्ट और स्थानीय है। तेजी से बढ़ रही आबादी के लिए भोजन और ईंधन जुटाने के लिए, उनके रहने के स्थान के निकट पर्याप्त उपजाऊ भूमि होनी चाहिए। इसके बावजूद विकासशील विश्व के अनेक भागों में बड़े-बड़े भूखंड मनुष्य के इस्तेमाल के अयोग्य होते जा रहे हैं। ऐसा मुख्य रूप से वनों के नष्ट होने और उसके परिणामस्वरूप अनुर्वर भूमि के फैलते जाने के कारण हो रहा है।

खेती करने, ईंधन के लिए लकड़ी काटने और पेड़ गिराने का मिला जुला परिणाम यह हुआ है कि बड़े-बड़े ढाल वृक्षहीन हो गए हैं, सालाना मानसूनी मौसम में इन ढालों से मिट्टी कटकर पानी के साथ बह जाती है जिससे बार-बार व्यापक स्तर पर बाढ़ें आती हैं और झीलों और नदियों में लाखों टन मिट्टी भर जाती है।

हमारे देश में प्रति व्यक्ति उपलब्ध भूमि की औसत, संसार में सबसे कम (0.48 हेक्टेयर से भी कम) होने के बावजूद भूमि उपयोग की कोई निश्चित योजना नहीं है। सरकारी कानून वनों की कटाई और वन भूमि को किसी अन्य उपयोग में लाने पर ही प्रतिबन्ध लगाते हैं। खेत की भूमि पर कारखाने या आवास बनाने से लोगों को नहीं रोकते। परिणामस्वरूप खेती, विशेष रूप से महानगरों के आसपास की खेती नष्ट होती जा रही है। उदाहरण के लिए दिल्ली को ही लीजिए। वहां यमुना-पार की भूमि पर जो खेती के लिए बहुत अच्छी है, बड़ी-बड़ी आवास कालोनियां बसा दी गई हैं और उद्योग स्थापित कर दिए गए

हैं। होना यह चाहिए था कि उद्योग और आवास के लिए केवल बंजर अनुर्वर, पहाड़ो, बेकार जमीन इस्तेमाल की जाती।

हमारे देश के संदर्भ में, जहां अब भी 76 प्रतिशत आबादी गांवों में रहती है और कृषि पर निर्भर है तथा अब भी 40 प्रतिशत व्यक्ति गरीबी की रेखा से नीचे हैं, भूमि-उपयोग के लिए स्पष्ट और विस्तृत अधिनियम लागू होना आवश्यक है। उनके बगैर हम अपनी उपलब्ध भूमि का कभी भी सही उपयोग नहीं कर पायेंगे।

अभी भी हमारे देश में पर्याप्त भूमि है जो खाई या गड्ढों से भरी, पथरीली, दलदली, बहुत क्षारीय अथवा एकदम रेतीली होने के कारण बेकार पड़ी है। एक अनुमान के अनुसार देश में लगभग 40 लाख हेक्टेयर भूमि में खाइयां और गड्ढे हैं, 25 लाख हेक्टेयर भूमि क्षारीय है, 98.2 लाख हेक्टेयर भूमि परती पड़ी है, 55 लाख हेक्टेयर सागर के तटों की रेतीली भूमि है। इसके अतिरिक्त 1 करोड़ 67 लाख हेक्टेयर भूमि ऐसी है जो खेती के गलत तरीकों के कारण बंजर हो गई है। ऐसी भूमि लगभग हर राज्य में है। हमें इस भूमि की ओर ध्यान देना चाहिए। अगर इसे कृषियोग्य न भी बनाया जा सके तो उद्योगों या आवास के लिए अथवा वन्य प्राणियों के अभयारण्य बनाने के लिए इस्तेमाल करने के बारे में सोचा जा सकता है।

बिहार, उड़ीसा तथा कुछ राज्यों में कोयला, लोहा, मैंगनीज, अभ्रक आदि के बड़े भंडार हैं। इन भंडारों से खनिज निकालते समय आमतौर पर भूमि की उपयोगिता और पर्यावरण परिस्थितियों को स्वच्छ रखने की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया जाता। [illegible] निकलने वाले पत्थर, मिट्टी आदि को खानों के निकट ही [illegible] दिया जाता है। साथ ही जिन खानों से खनिज निकलने बन्द हो [illegible] उन्हें ऐसे ही, बिना किसी उपचार के छोड़ दिया जाता है। [illegible] काफी भूमि बेकार हो गई है। न तो उस पर खेती हो [illegible] वनरोपण किया जा सकता, न मकान बनाए जा सकते हैं [illegible] उद्योग लगाए जा सकते हैं। इस प्रकार की भूमि का [illegible] के लिए योजना बनाना जरूरी है क्योंकि इस भूमि के [illegible] के निवासियों का भविष्य जुड़ा हुआ है।

पिछले कुछ दशकों में हमने अन्न उत्पादन [illegible]

प्राप्त की है। इस सफलता का श्रेय बहुत हद तक सिंचाई व्यवस्था में की गई वृद्धि को है। उस भूमि पर जहां वर्षा बहुत कम होती थी, सिंचाई करने से पैदावार में बहुत बढ़ोत्तरी हुई है।

सिंचाई करने के लिए हमने नदियों पर बांध बांधे, बड़ी मात्रा में पानी इकट्ठा किया और नहरें काटकर प्यासे खेतों तक पानी पहुंचाया। पिछले दिनों हमने इसी प्रकार इंदिरा नहर से थार मरुस्थल में भी पानी पहुंचा दिया। यह एक विशाल कार्य था।

पर इस सब में हमने एक बात की ओर ध्यान नहीं दिया। नहरों के कारण अनेक क्षेत्रों में पानी खड़ा हो गया। वे जलग्रस्त हो गए और क्षारीय बन गए तथा खेती के लिए अनुपयोगी हो गए।

इस प्रकार अधिक सिंचाई से खेत भी क्षारीय हो जाते हैं और धीरे धीरे उनकी उर्वरता कम हो जाती है। इस बारे में लोग प्राचीन मेसोपोटामिया का उदाहरण देते हैं। आवश्यकता से अधिक सिंचाई करने से, लगभग 6000 वर्ष पूर्व, मेसोपोटामिया की सभ्यता समाप्त हो गई थी।

सिंचाई के बारे में एक बात उल्लेखनीय है। आजादी से पहले कुल 3.8 करोड़ हेक्टेयर भूमि पर सिंचाई होती थी। इनमें से 60 प्रतिशत क्षेत्र पर कुएं या ट्यूबवेल से सिंचाई की जाती थी। पर अब इस बारे में कुओं को छोड़ दिया गया है। उदाहरण के लिए अकेली गंगा नहर के निर्माण से लगभग 10,000 कुएं बेकार हो गए।

बांध बनाने से गाद की समस्या भी बढ़ी है। नदियों पर बांधों के फलस्वरूप बने जलाशयों में बड़ी मात्रा में गाद इकट्ठी होने लगी है। इससे नदियां उथली हो गई हैं, उनका बहाव कम हो गया है और वे उस गन्दगी को, जो उनमें डाली जाती है, बहा ले जाने में असमर्थ हो गई हैं। गाद के जमने के कारण बांधों के जलाशय भरने लगे हैं। उनकी जल-विद्युत बनाने की क्षमता कम होने लगी है।

इन सब बातों के परिणामस्वरूप कुछ लोग तो यहां तक कहने लगे हैं कि बांध बनाने या नहरों से सिंचाई करने से लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होती है। इसीलिए बांध बनाने की योजना तैयार करने से पहले सब पहलुओं पर विचार करना जरूरी है।

भूमि का कटाव एक गंभीर समस्या है और उसका एक बहुत बड़ा

हमारे देशवासी वनों के महत्व से, प्राचीन और मध्य युग में भी,
भलीभांति परिचित थे । इसीलिए वे वृक्षों की रक्षा करने के
लिए अपने जीवन की बाजी लगा देते थे ।

कारण वनों की अंधाधुंध कटाई है । वनों के कटने के दुष्परिणाम केवल पहाड़ी इलाकों को ही नहीं मैदानी भागों को भी सहन करने पड़ते हैं । यद्यपि वन संरक्षण के लिए सरकारी कानून हैं पर शायद ही कभी उनका पालन उचित तरीके से हुआ हो । इसीलिए आज हमारे देश के कुल 14 प्रतिशत भाग में ही वन हैं जबकि उन्हें लगभग 33 प्रतिशत भाग में होना चाहिए था । पहाड़ी इलाकों में वांछित 60 प्रतिशत भूमि की तुलना में काफी कम क्षेत्र में वन हैं ।

वन-संरक्षण का कार्य गैर-सरकारी, सामाजिक संस्थायें ही बेहतर कर सकती हैं । इस बारे में 'चिपको आंदोलन' ने बहुत सराहनीय कार्य किया है । चिपको आंदोलन का जन्म आज से लगभग 250 वर्ष पूर्व गढ़वाल (उत्तर प्रदेश) क्षेत्र में (जहां वृक्षों की रक्षा करने के लिए

363 पुरुष, स्त्रियों और बच्चों ने अपने प्राणों की आहुति दे दी थी) हुआ था। वर्तमान संदर्भ में इसका पुनर्जन्म, मार्च 1973 में, गढ़वाल में हुआ। उसके बाद यह अन्य स्थानों पर भी फैल गया। इसमें सुन्दर लाल बहुगुणा और चण्डी प्रसाद भट्ट जैसे व्यक्तियों का अत्यन्त महत्वपूर्ण योग रहा है।

भूमि, खेती, वन, ईंधन तथा पर्यावरण से सम्बन्धित, ग्रामीणों की समस्यायें हल करने के लिए यह सुझाव पेश किया गया है कि हर गांव के इर्द-गिर्द लगभग 2 या 3 वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र 'सुरक्षित' घोषित कर दिया जाना चाहिए। इस क्षेत्र से उस गांव के निवासी अपनी कृषि, ईंधन, चारे आदि की आवश्यकतायें पूरी कर सकते हैं।

पुनः उत्पादनीय ऊर्जा स्रोत—ऊर्जा खपत की दर को आमतौर से प्रगति का द्योतक माना जाता है। आज जो देश जितनी अधिक ऊर्जा खर्च करता है वह उतना ही प्रगतिशील माना जाता है। आज विकसित देश संसार में खर्च की जाने वाली कुल ऊर्जा का 80 प्रतिशत भाग खर्च कर रहे हैं यद्यपि उनकी जनसंख्या विश्व की कुल जनसंख्या का मात्र 30 प्रतिशत है। इसका यह अर्थ हुआ कि विश्व की 70 प्रतिशत जनता केवल 20 प्रतिशत ऊर्जा ही खर्च करती है। पर जो जितनी अधिक ऊर्जा खर्च करता है वह उतना प्रदूषण भी फैलाता है। इसीलिए प्रगतिशील देशों में अधिक प्रदूषण होता है। यह प्रदूषण उस समय और अधिक हो जाता है जब ईंधन के रूप में कोयला, तेल या गैस का उपयोग किया जाता है।

यद्यपि विकासशील देश कम मात्रा में ऊर्जा खर्च करते हैं पर वे भी लकड़ी, गोबर, कोयला जैसे ईंधनों का उपयोग कर अपने वायुमंडल को दूषित करते जा रहे हैं। यदि वे ऊर्जा के पुनः उत्पादनीय स्रोतों का उपयोग करें तो प्रदूषण की समस्या काफी हद तक हल हो सकती है। सूर्य, पवन, भूगर्भ ऊष्मा, सागर आदि ऐसे स्रोत हैं जो हमें बहुत अधिक मात्रा में, बहुत कम खर्च पर ऊर्जा दे सकते हैं। पर उनसे ऊर्जा प्राप्त करने के लिए आरम्भ में काफी अनुसंधान करने पड़ेंगे और काफी पूंजी लगानी पड़ेगी।

जहां तक सौर ऊर्जा का प्रश्न है हमारा देश 'स्वर्णपट्टी' में स्थित है। हमें साल में 250 से 300 दिनों तक लगातार सौर ऊर्जा मिलती

रहती है। अनुमान है कि हमारे देश की भूमि को प्रति वर्ष 1648 से 2108 किलोवाट अवर प्रति वर्गमीटर के हिसाब से सौर ऊर्जा प्राप्त होती है। हमारे देश के अनेक संस्थानों ने सौर ऊर्जा के उपयोग के बारे में अनुसंधान किए हैं और अनेक सौर उपकरण विकसित किए हैं।

जहां तक पवन और भूगर्भ ऊष्मा से ऊर्जा प्राप्त करने की बात है देश के कुछ ही क्षेत्रों में ऐसा कर पाना संभव है। वैसे इस बारे में प्रयास किए जा रहे हैं। इसी प्रकार सागर के विभिन्न जल स्तरों के तापांतरों से बिजली बनाने के लिए लक्षद्वीप में, कारावती के निकट, परियोजना कार्यान्वित की जा रही है।

ऊर्जा का एक स्रोत जो गैर-व्यावसायिक होते हुए भी हमारे देश में बहुत अधिक इस्तेमाल किया जाता है और कुछ हद तक पुनःउत्पादनीय भी है, वह है गोबर। खाद का बढ़िया स्रोत होने के बाद अभी भी ग्रामीण क्षेत्रों में ईंधन के रूप में ही गोबर का अधिक इस्तेमाल किया जाता है। समझा जाता है कि देश को 23.7 करोड़ ढोरों से प्रति वर्ष एक से डेढ़ अरब टन तक गीला गोबर प्राप्त होता है। अगर इस सबसे गैस बनाई जा सके तो उसका आयतन 2242.5 करोड़ घनमीटर होगा।

गोबर से गैस बनाकर उसे ईंधन के रूप में इस्तेमाल करने के प्रयत्न देश में पिछले कुछ दशकों से किए जा रहे हैं और समझा जाता है कि देश के विभिन्न भागों में तीन लाख से भी अधिक गोबर गैस प्लांट लगाए जा चुके हैं। इनसे ईंधन के रूप में गोबर का बेहतर उपयोग होता है। साथ ही खाद भी मिल जाती है। पर यह शिकायत अक्सर आती रहती है कि गोबर गैस प्लांट भली प्रकार कार्य नहीं कर पाते। इसके कारण अक्सर तकनीकी व्यक्तियों, मिस्त्रियों तथा सीमेंट आदि की कमी है। यदि इन कमियों को दूर किया जाता है और साथ ही गोबर गैस प्लांटों की संख्या में बढ़ोत्तरी कर दी जाती है तो ग्रामीण क्षेत्रों में ऊर्जा के साथ-साथ प्रदूषण की समस्या भी काफी हद तक हल हो सकती है।

वायु प्रदूषण रोकने के उपाय—शहरों में वायु प्रदूषण उत्पन्न करने में मोटर वाहनों का विशेष योग होता है। अतएव उसे रोकने के लिए निम्न कदम उठाए जा सकते हैं :

ऐसे वाहनों का आविष्कार किया जाए जो पेट्रोल या डीजल की बजाय बिजली से चलें। बिजली से चलने वाले मोटर वाहन बहुत कम प्रदूषण उत्पन्न करेंगे और सघन आबादी वाले क्षेत्रों के लिए विशेष रूप से उपयोगी रहेंगे। यद्यपि विद्युत चालित मोटर वाहन विकसित किए जा चुके हैं पर अभी उनका उत्पादन बड़े पैमाने पर नहीं हो रहा है। जब तक ऐसा नहीं होता कम-से-कम मोटर वाहनों के इंजनों की समय पर सही देखभाल की जानी चाहिए जिससे वे ईंधन को सही तरीके से इस्तेमाल कर सकें। ऐसा करने से वाहनों का चालन-खर्च भी कम आएगा क्योंकि ईंधन की निश्चित मात्रा से वाहन अधिक दूरी तय कर सकेगा। साथ ही उससे बिना जला ईंधन एग्जास्ट के रूप में बाहर नही निकलेगा।

पेट्रोल इंजन चलते-चलते झटके देने लगता है। इसको रोकने के लिए आमतौर से पेट्रोल में सीसे के यौगिक मिलाए जाते हैं। पर ये एग्जास्ट के साथ बाहर निकल कर वायुमंडल को प्रदूषित कर देते हैं। इसलिए आवश्यकता ऐसा इंधन (पेट्रोल) खोजने की है जो इंजन को सुचारू रूप से चलाए और वातावरण को प्रदूषित भी न करे।

व्यर्थ पदार्थों का पुनः उपयोग—कारखानों से निकलने वाले प्रदूषकों से हमें बहुत अधिक हानि होती है। भविष्य में भोपाल जैसी भयंकर दुर्घटनायें न हों, इस बारे में गंभीर प्रयत्न करने पड़ेंगे। हम न तो जहरीले और कुछ हद तक घातक, रसायनों का उपयोग बन्द कर सकते हैं (क्योंकि वे हमारे लिए बहुत उपयोगी भी हैं) और न ही उनसे उत्पन्न प्रदूषण को सहन कर सकते हैं। इसलिए हमें ऐसे उपाय करने पड़ेंगे जिनसे सांप मर जाए पर लाठी न टूटे। ये उपाय हैं व्यर्थ समझ कर फेंक दिए जाने वाले पदार्थों—जिनमें से अधिकांश हानिकारी और जहरीले होते हैं—का पुनः उपयोग करना। इनसे इन पदार्थों को फेंकने समस्या हो नहीं रहेगी और हमारी प्रदूषण रोकने को समस्या अपने आप हल हो जाएगी।

जैसा कि आप ऊपर पढ़ चुके हैं प्राचीनकाल में मनुष्य प्रकृति से बहुत कम मांग करता था और बहुत कम व्यर्थ पदार्थ उत्पन्न करता था। साथ ही वे व्यर्थ पदार्थ आसानी से विघटित होकर पुनः 'प्राकृतिक चक्र' के अंग बन जाते थे। सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ मांग बढ़ी

और व्यर्थ पदार्थों के ढेर भी बढ़े। इन ढेरों से फैला प्रदूषण।

व्यर्थ पदार्थों के ढेरों के आयतन और संख्या में वृद्धि का कारण है कि हम किसी वस्तु प्लास्टिक, धातु, कांच, कागज आदि को केवल एक बार इस्तेमाल करने के बाद फेंक देते हैं। अनेक देशों में, जिनमें संयुक्त राज्य अमेरिका भी शामिल है, इन व्यर्थ पदार्थों का उपयोग केवल जमीन के गड्ढे अथवा नीची जमीन को भरने के लिए किया जाता है। समझा जाता है कि अकेले अमेरिका में ही कचरे से लगभग 4,76,000 एकड़ भूमि में फैले 14,000 गड्ढों को भरा जा रहा है।

पर जापान में स्थिति एकदम भिन्न है। वहां कचरा इकट्ठा करने और उसका पुनः उपयोग करने की परम्परा 200-300 वर्ष पुरानी है। वहां कचरे को पाइपों में से, वायु प्रवाह की मदद से, 20-30 मीटर प्रति सैकंड की गति से बिगलावकों में ले जाया जाता है। जहां उसे संपीड़ित किया जाता है जिससे उसके विभिन्न टुकड़ों के बीच फंसी वायु निकल जाए और साथ ही उसका आयतन भी कम हो जाए। हवा को विभिन्न छन्नों में से गुजार कर मुक्त कर दिया जाता है और संपीड़ित कचरे को जलाकर ऊर्जा प्राप्त कर ली जाती है।

जापान में पुनः इस्तेमाल किए जाने वाले कचरे की मात्रा प्रति वर्ष बढ़ती जा रही है। 1974 में वहां 16 प्रतिशत कचरे का पुनः उपयोग किया गया और 1978 में 48 प्रतिशत। बाद में इस प्रतिशतता में और वृद्धि हुई। 1980 में वहां 29.2 करोड़ टन औद्योगिक व्यर्थ उत्पन्न हुए जिसमें से 12.4 करोड़ टन का पुनः उपयोग कर लिया गया। 10 करोड़ टन को निर्जलित कर जला लिया गया और 6.8 करोड़ टन को नीची जमीन में भर दिया गया। आज जापान में 50 से भी अधिक ऐसे संयत्र काम कर रहे हैं जो कचरे को उपचारित करके उससे बिजली बना रहे है।

कचरे/वेकार पदार्थों को पुनः इस्तेमाल करने की क्षमता से जापान के मोटर निर्माण उद्योग को बहुत बढ़ावा मिला है। वह अमेरिका का बेकार लोहा कचरे के भाव खरीद लेता है और उससे कार बना लेता है। इसलिए यह कहावत बन गई है कि "पिछले वर्ष की ब्यूक (अमेरिका द्वारा बनाई जाने वाली एक अति आधुनिक मोटर कार) आज की टायोटा (जापान द्वारा बनाई जाने वाली कार) बन गई है।"

समझा जाता है कि एक भारतीय औसतन प्रतिवर्ष 0.5 से 0.7 किलोग्राम व्यर्थ पदार्थ उत्पन्न करता है। क्योंकि हमारा देश कृषि प्रधान है इसलिए कचरे में भी खेती की छीजन की मात्रा ही ज्यादा होती है। इस छीजन का आभास निम्न आंकड़ों से हो सकता है :

	मात्रा टनों में (प्रति वर्ष)
अखाद्य तेल बीज	10 लाख
साल बीज	40 हजार
तेल निकालने के बाद मूंगफली की खली	20 से 25 लाख
धान की भूसी	24 लाख
चाय व्यर्थ	8 से 9 हजार
शीरा	1.7 लाख
तम्बाखू व्यर्थ	62 हजार
नारियल खोल	8.8 लाख
नारियल भूसी	5 लाख
सुपारी भूसी	1 लाख

इनके अतिरिक्त काफी बड़ी मात्रा में अन्य छीजनें भी होती हैं। साथ ही उद्योगों में भी बड़ी मात्रा में बेकार पदार्थ निकलते हैं।

इन बेकार पदार्थों को पुनः इस्तेमाल करने के लिए देश की अनेक प्रयोगशालाओं में अध्ययन और अनुसंधान किए जा रहे हैं। इस बारे में नेशनल कमेटी आन साइंस एण्ड टैक्नोलाजी ने काफी अध्ययन के बाद 1975 में एक रिपोर्ट भी तैयार की थी। उक्त अनुसंधानों और अध्ययनों में ऐसी अनेक विधियां ज्ञात हुई हैं जिनसे खेती की छीजन और उद्योगों के व्यर्थ पदार्थों को पुनः इस्तेमाल किया जा सकता है।

उदाहरण के तौर पर कोयले की बारीक धूल (फ्लाई ऐश) को ही लीजिए। ताप बिजलीघरों और कोयला जलाने वाले अन्य उद्योगों के निकट इसके बड़े-बड़े ढेर लगे रहते हैं। अब इससे सीमेंट, एस्फाल्ट, फिल्टर, अनेक प्रकार की भवन निर्माण सामग्री, ग्लास वूल आदि तैयार किए जा सकते है। ईंटें बनाने के लिए तो यह धूल बहुत बढ़िया होती है। उससे बनी ईंटें अधिक मजबूत और टिकाऊ होती हैं।

इसी प्रकार अखाद्य तेलों से साबुन बनाया जा सकता है। धान की भूसी से तेल निकाला जा सकता है और बचे हुए शीरे से अल्कोहल तैयार की जा सकती है।

व्यर्थ पदार्थों के पुनः उपयोग की चर्चा करते समय हमें सीवेज के रूप में निकलने वाली गंदगी और पानी को नहीं भूल जाना चाहिए। जैसाकि आप पढ़ चुके हैं अब भी हमारी नदियों को प्रदूषित करने वाला सबसे बड़ा कारक है मानव मलमूत्र और घरेलू कचरा।

इस बारे में वैज्ञानिकों ने दो प्रकार के उपाय सुझाए हैं। पहला हर शहर में सीवेज उपचार प्लांट स्थापित करना और दूसरा मानव मलमूत्र को गोबर गैस प्लांट जैसे संयत्र में उपचारित करके उससे गैस बनाना।

पहला उपाय दीर्घकालीन है। ओखला (दिल्ली) जैसा सीवेज उपचार प्लांट स्थापित करने में काफी धन और समय की जरूरत होती है यद्यपि उससे न केवल सीवेज ठिकाने लग जाता है वरन् बड़ी मात्रा में खाद, गैस और पानी भी मिल जाते हैं। ओखला प्लांट से सीवेज उपचार के बाद निकला पानी इतना स्वच्छ होता है कि उसे सीधा ही यमुना में मिला दिया जाता है। इससे यमुना में पानी की कमी भी कुछ हद तक पूरी हो जाती है।

दूसरा उपाय पटना शहर में प्रयोग के रूप में अपनाया गया है और उसकी सफलता को देखकर अन्य स्थानों पर भी प्रयोग किए जा सकते हैं। मानव मल-मूत्र का उपयोग घरेलू गैस प्लांटों में करने से सीवेज को ठिकाने लगाने की समस्या कम खर्च पर ही आसानी से हल हो सकती है। उससे ईंधन की समस्या को भी हल करने में सहायता मिलेगी।

जन-जागरण की आवश्यकता—प्रदूषण आज की अत्यन्त विकट समस्या है। उसे केवल सरकारी तौर पर ही हल नहीं किया जा सकता। उसके लिए कानून बनाना और कठोरता से पालन कराना जरूरी है। आम जनता में प्रदूषण उत्पन्न न होने देने और व्यर्थ पदार्थों को पुनः इस्तेमाल करने के प्रति चेतना उत्पन्न करना भी आवश्यक है। सरकार का ध्यान भी इस ओर गया है और हमारे पर्यावरण विभाग ने पर्यावरण को स्वच्छ और स्वास्थ्यवर्द्धक बनाए रखने में देश
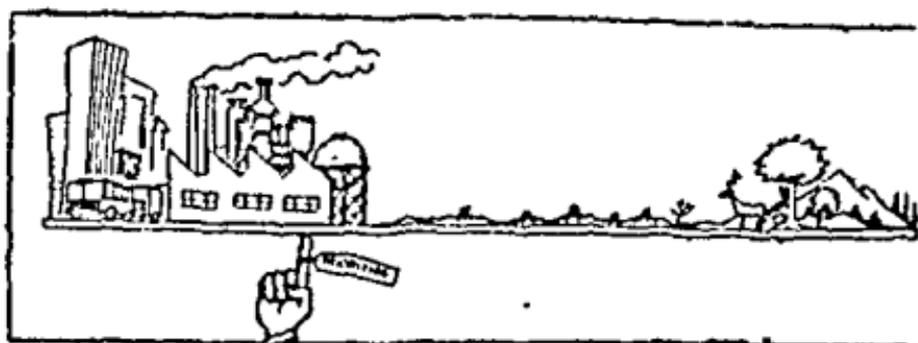
प्रदूषण की समस्या का निवारण हो जाने पर हमारे कारखाने, कीटनाशी, उर्वरक, बांध आदि हमें हानि नहीं पहुंचा पायेंगे। उस समय वन्य जीवों, पेड़-पौधों और मनुष्य के बीच सामंजस्य होगा। वे एक दूसरे के पूरक होंगे।

के युवा वर्ग को शामिल करने हेतु अनेक योजनायें बनाई हैं। इस दृष्टि से देश के विभिन्न भागों में पर्यावरणीय संवर्द्धन शिविरों का आयोजन किया गया। इससे युवा वर्ग और विद्यार्थियों में पर्यावरण के प्रति एक नई चेतना जागृत हुई है।

हर्ष का विषय है कि आज देश में 187 गैर-सरकारी संस्थायें पर्यावरण को स्वच्छ बनाए रखने के लिए, लोगों में नई चेतना फैलाने का कार्य कर रही हैं। उनका उद्देश्य लोगों को यह बताना है कि पर्यावरण को प्रदूषित न होने देने में ही सब लोगों का कल्याण है और वे इस पुनीत कार्य में कैसे योग दे सकते हैं।

आज स्कूल और कालेज के विद्यार्थियों में इस बारे में चेतना फैलाने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। पर्यावरण को उनके पाठ्यक्रमों में शामिल किया जा रहा है।

प्रदूषण उत्पन्न होने देना और उसे दूर करना एक अत्यन्त विशाल और जटिल समस्या है पर उसे हल करने के लिए हम कटिबद्ध हैं। हमें आशा है कि हम अपनी गंगा को फिर उतनी ही पवित्र बना लेंगे जितनी भगीरथ के समय थी। हमारी भूमि उतनी ही शस्यश्यामला हो जाएगी जितनी प्राचीनकाल में थी। दिन दूनी रात चौगुनी औद्योगिक प्रगति करते रहने के बाद भी हमारे शहरों की न तो वायु गंदी होगी और न पानी। हम स्वच्छ हवा में सांस ले सकेंगे और शुद्ध पानी पी सकेंगे।

हम आशावान हैं। भविष्य हमारे साथ है। □□